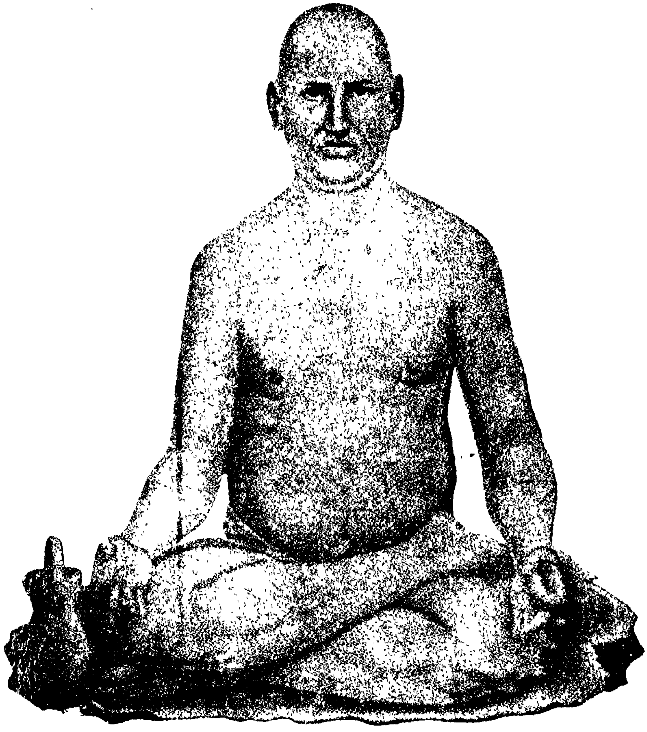
राष्ट्रवादी दयानन्द



यदेव विद्यालंकार

जागृति ग्रन्थ माला

(१)

राष्ट्रवादी दयानन्द

लेखक:—

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

(सम्पादक-हिन्दुस्तान, नई दिल्ली)

भूमिका-लेखक:—

अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

१ वैशाख १९९८
१२ अप्रैल १९४१

मूल्य ।।।)
सजिल्द १)

प्रकाशक:—

"गीता विज्ञान कार्यालय"

४० ए, हनुमान रोड

नई दिल्ली।

मुद्रक—

काशीप्रसाद वाजपेयी,

प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,

बाजार सीताराम, देहली।

परिचय

सारे विश्व में आर्यावर्त के आर्य-साम्राज्य की स्थापना करने का "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा बुलन्द करने वाले आर्यों में आर्यसमाज के धार्मिक संस्था होने की धारणा इतनी बद्धमूल हो गई है कि उसके विरुद्ध आवाज उठाना मुश्किल और उनकी इस धारणा को बदलना प्रायः असम्भव हो गया है। आर्यसमाज को धार्मिक संस्था भी इस रूप में माना जाने लगा है कि उसका काम ब्राह्मण के समान सिर्फ धर्म-कर्म का उपदेश करना रह गया है। परिणाम इसका यह हुआ है कि आर्यसमाज ऐसी कर्मकाण्ड-प्रधान संस्था बन गया है कि उसका देश के सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। निजाम हैदराबाद में किये गये सत्याग्रह में भी जितना जोर धार्मिक अधिकारों पर दिया गया था, उतना उन नागरिक अधिकारों पर नहीं दिया गया, जिनके बिना मनुष्य के जीवन का निर्वाह होना कठिन हो जाता है। सत्याग्रह के बाद भी आर्यसमाज वही कोरा धर्म-प्रचार ही करना चाहता है। धर्म-प्रचार की जो सीमा मान ली गई है, उससे आगे बढ़ने के लिये उसे प्रेरित करना पर्वत को हिलाने के समान असम्भव हो गया है। फिर भी यह पुस्तक लिखने का दुःसाहस किया गया है और ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद को जनता के समक्ष उपस्थित करने का उद्योग किया गया है। इससे इतना लाभ तो जरूर होगा कि ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में आर्यसमाजियों की इस धारणा से पैदा हुई भ्रान्ति दूर हो जायगी और उनका राष्ट्रीय स्वरूप उन पर

प्रगट हो जायगा, जो उनको सिर्फ समाज-सुधारक और धर्म-प्रचारक के ही रूप में देखते हैं।

आर्यसमाज को धर्म-प्रधान और सिर्फ धर्मोपदेश करने वाली ब्राह्मण-संस्था मान लेने की बद्धमूल धारणा से पैदा हुए दुष्परिणामों की यथा-स्थान चर्चा की गई है। सब से भयानक दुष्परिणाम इस भ्रान्त धारणा का यह हुआ है कि आर्यसमाजी धर्म-कर्म की शाब्दिक उपासना में तो लग जाता है; लेकिन, शक्ति की साधना में नहीं लगता। वह स्वभावत: तार्किक होता है। बात-बात में वह नुक्ता-चीनी करने लग जाता है। इस लिये धर्म-कर्म में भी उसकी उतनी श्रद्धा-भक्ति नहीं रहती। इस से धर्म की उपासना भी पूरी नहीं हो पाती और शक्ति की साधना की ओर तो उसका कभी ध्यान ही नहीं जाता। 'शस्त्र' और 'शास्त्र' का जिसके धर्म में एक समान महत्व है, वह दोनो से वंचित रह कर 'कोरा बाबू' बन जाता है। आज आर्यसमाज को ऐसे ही बाबुओं की संस्था कहना चाहिये। इसी का स्वाभाविक और अनिवार्य दुष्परिणाम यह है कि आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित चातुर्वर्ण्य की स्थापना के ठोस और विधा-यक कार्यक्रम को पूरा करके समाज-रचना के द्वारा राष्ट्र-निर्माण की नींव नहीं डाल सका। जब धर्म-प्रधान ब्राह्मण-संस्था का हर एक भजनीक व उपदेशक ही नहीं, परन्तु हर सभासद् भी 'पण्डित' बन कर वर्णव्यवस्था की उच्चतम व अन्तिम सीढ़ी पर अनायास ही चढ़ सकता है और चढ़ जाता है, तब अपने समाज, अपने देश और अपने राष्ट्र की सेवा करने वाले हनुमान सरीखे सेवक, भामाशाह सरीखे वैश्य और राजपूतो, सिखों एवं मराठों सरीखे क्षत्रिय कहा से पैदा हों? उनको पैदा करने या स्वयं को

उन मर्यादा बनाने की भावना या कल्पना किस के हृदय में पैदा हो सकती है? ऋषि दयानन्द की समाज-रचना एवं राष्ट्र-निर्माण के व्यापक कार्यक्रम की आर्यसमाज नींव तक डालने में समर्थ नहीं हो सका और अपने विधायक कार्यक्रम की ओर दृढ़ता के साथ पैर नहीं बढ़ा सका। फिर उसे शिकायत है किसी ठोस और नवीन कार्यक्रम के अभाव की। कैसी हास्यास्पद यह स्थिति है?

मथुरा में मनाई गई जन्म-शताब्दी के अवसर पर इस पुस्तिका का पहिला संस्करण 'दयानन्द दर्शन' के नाम से प्रकाशित किया गया था। वह भी कई वर्षों के अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। लेकिन, प्रस्तुत पुस्तिका तो और भी अधिक अध्ययन का यदि नहीं तो चिन्तन का परिणाम जरूर है। फिर इसके लिखने में कई महानुभावों की प्रेरणा भी शामिल है। सबसे अधिक प्रेरणा राजगुरु पं० धुरेन्द्रजी शास्त्री से तब मिली, जब विजयगढ़ में उनकी उपस्थिति में लेखक को इन विचारों को प्रगट करने का अवसर कोई दो वर्ष पहिले मिला था। मेरठ के भाई विश्वम्भरसहाय जी प्रेमी तो जब भी मिलते, तब इसके लिये बराबर तकाजा कर के रह जाते। चिरंजीव धर्मवीर प्रेमी बी० ए० का भी काफी अनुरोध रहा। दिल्ली क्लाथ मिल की आर्यसमाज के प्रधान भाई रामप्रतापजी शर्मा तो एक प्रकार से घर पर धरना ही देकर बैठ गये। यह पुस्तिका एक प्रकार से उन्हीं की प्रेरणा, सहयोग और सहायता का परिणाम है। उनसे इतना उत्साह मिला कि 'दयानन्द दर्शन' को नये सांचे व ढाचे में ढाल कर उसको बिलकुल नया ही रूप दे दिया गया है। 'दयानन्द दर्शन' की आत्मा को 'राष्ट्रवादी दयानन्द' में वैसा ही कायम रख कर उसकी देह

को सर्वथा बदल दिया गया है। नये रूप, नये क्रम और नयी भाषा में इसे लिखा गया है। 'दयानन्द दर्शन' की भूमिका तब अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने लिख देने की कृपा की थी। उनकी भूमिका से अधिक सुन्दर, अधिक बढ़िया और अधिक उपयुक्त कोई दूसरी भूमिका मिलनी संभव नहीं थी। उनके चरणों में बैठकर ही ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता को जानने तथा समझने का अवसर मिला है और उनके आदर्श जीवन से ऋषि के राष्ट्रवाद में लेखक की श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। इस लिये आशीर्वाद-रूप में प्राप्त हुई उनकी भूमिका से ही इस पुस्तिका को सुशोभित करने के लालच को दबा सकना संभव नहीं रहा। पाठक देखेंगे कि आज भी उनके वे शब्द कितने यथार्थ और सार्थक हैं?

सात-आठ प्रान्तों में पीछे कांग्रेस की सरकारों का स्थापित होना साधारण बात नहीं थी। राष्ट्रवादी का हृदय उस पर फूला न समाया था। लेकिन, ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद, उनकी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा और स्वराज्य एवं साम्राज्य की उनकी महान् भावना एवं कल्पना का थोड़ासा भी परिचय रखने वाले के लिए यह दृश्य मर्मान्तक वेदना पैदा करने वाला था कि स्वराज्य की उस धुंधली सी छाया में सामूहिक रूप से आर्यसमाज का कुछ भी स्थान न था। चाहिये तो यह था कि आर्यसमाज की ही सरकारें सब प्रान्तों में कायम होतीं और केन्द्रीय सरकार पर भी उसी का कब्जा होता। लेकिन, आज तो ऐसा कहना और सोचना शेखचिल्ली की बातें प्रतीत होती हैं। आर्यसमाज ने राजनीति का परित्याग करके ऐसी कल्पनाओं और मनोरथों का पूरा होना सदा के लिये असम्भव बना दिया है। फिर भी आर्यसमाज में ऐसे साहसी युवकों

की कमी नहीं है, जो आर्यसमाज में ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद को स्थापित हुआ देखना चाहते हैं और देश के राष्ट्रीय नेतृत्व की बागडोर भी उसी के हाथों में आई हुई देखने को लालायित हैं। ऐसे अनेक युवक साथियों की भी ज्ञात और अज्ञात प्रेरणा इस पुस्तिका के लिखने में सहायक रही है। यदि ऐसे साथियों को इससे कुछ भी प्रोत्साहन मिल सका और उनकी इच्छा की पूर्त्ति में यह थोड़ा-सा भी सहायक हो सकी, तो लेखक अपने परिश्रम को सफल हुआ मानेगा।

यह पुस्तिका बहुत पहिले प्रकाशित हो जानी चाहिये थी। अब भी देरी से ही प्रकाशित हो रही है। दैनिक-पत्र की सम्पादकी में ऐसे काम के लिये अधिक समय निकाल सकना मुश्किल है। वृन्दावन-गुरुकुल के उत्सव पर लेखक ने "आर्यसमाज का राष्ट्रवाद" विषय पर भाषण देना स्वीकार किया था। उसी समय इसको लिखने और प्रकाशित करने की इच्छा थी। उसके बाद भाई रामप्रताप शर्मा ने अपने आर्यसमाज के उत्सव पर सभासदों को उपहार देने के रूप में इसे प्रकाशित करने का अनुरोध किया। फिर आर्यसमाज के स्थापना-दिवस पर इसे प्रकाशन करने का यत्न किया गया। लेकिन, वह भी सफल न हुआ। पुस्तिका की लिखाई और छपाई दोनों में काफी जल्दबाजी से काम लिया गया है। इस लिए कोई भूल-चूक हो जाना स्वाभाविक है। मैं प्रेस के मालिकों का आभारी हूं कि उन्होंने इसकी छपाई में सहृदयतापूर्ण सहयोग दिया है।

अनेक भाइयों को मेरा यह उद्योग व्यर्थ भी प्रतीत हो सकता है, क्योंकि आर्यसमाज की वर्तमान गति-विधि में सहज में कोई परिवर्तन पैदा कर सकना सम्भव नहीं है। लेकिन, आशावादी निराश होना नहीं जानता।

आर्यसमाज में भले ही कोई परिवर्तन या क्रान्ति न हो सके; लेकिन, आर्य युवकों के हृदय इतने कुण्ठित नहीं हो गये हैं कि वे भी परिवर्तन और क्रान्ति का स्वागत नहीं करेंगे। यह उद्योग उन्हीं के लिए किया गया है। उनके हृदयों में ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद की यदि हलकी-सी भी ज्योति जग गई और सर्वसाधारण में ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में पैदा हुआ भ्रम थोड़ा-सा भी दूर होगया, तो लेखक अपने उद्योग को पूरी तरह सफल हुआ मानेगा। बस, इसी इच्छा और आकांक्षा से उसने यह उद्योग किया है।

४० ए, हनुमान रोड,
नई दिल्ली,
"आर्यसमाज-स्थापना दिवस"
२८ मार्च १९४१

—सत्यदेव विद्यालंकार

भूमिका

वैदिक धर्म सारे संसार के सम्प्रदायों का जन्मदाता होते हुए भी साम्प्रदायिक सीमा का उल्लंघन किये हुए है। संसार के सम्प्रदाय धर्म की रक्षा के लिये स्थापन किये गये थे, परन्तु आज वे ही सम्प्रदाय मूल धर्म को भूल कर गौण मतभेद के धर्म के वादानुवाद में लगे हुए हैं। जिस प्रकार शरीर को जीवित रखने के लिये अन्न-फलादि के आहार की आवश्यकता है, इसी प्रकार आत्मिक जीवन की संरक्षा के लिये भी धर्मरूपी आत्मिक आहार की आवश्यकता होती है। शरीर-रक्षा के लिये अन्न और फल मुख्य हैं, परन्तु उसी अन्न और फल की रक्षा के लिये खेत वा बाटिका के इर्दगिर्द बाड़ लगानी पड़ती है। कैसा मूर्ख वह किसान है, जो अन्न-फल की पैदावार को भुलाकर अन्य किसानों की बाड़ों से ही अपनी बाड़ का मुकाबिला कर उनका तिरस्कार करता है? इसी प्रकार जीवात्मा का आहार धर्म अर्थात् प्रकृति के संसर्ग से छूट कर परमात्मा में स्वतन्त्र रूप से विचरण मुख्य है। उसकी रक्षा के लिये जो साम्प्रदायिक विधियां नियत की गई हैं, वे खेतों की बाड़ों के सदृश ही गौण हैं। कितना मूर्ख वह साम्प्रदायिक पुरुष है, जो गौण नियमों के विवाद में फंसकर अपने मुख्य धर्म को भूल जाता है।

वैदिक धर्म सार्वभौम और सार्वदेशिक है। इसका न कोई आदि और न कोई अन्त है। जिस धर्म का सदैव राज्य रहा हो, जो वर्तमान

सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व था, जो प्रवाह से अनादि चला आया है, जिसका सृष्टिक्रम समर्थन करता है, वही वैदिक धर्म है। इसी के पुनरुद्धार के लिये ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की बुनियाद डाली थी।

जब वैदिक धर्म का स्वरूप इतना व्यापक है, तो संसार की कोई भी नीति उसकी सीमा से बाहिर नहीं हो सकती। मनु महाराज ने कहा है कि 'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।' परम धर्म आचार ही है, इसलिये राजनीति भी उस धर्म की रक्षा का साधक होना चाहिए, बाधक नहीं। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म की व्याख्या करते हुए मानवीय किसी सम्बन्ध को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा।

इस ग्रन्थ में राजनीति-सम्बन्धी ऋषि दयानन्द के सब विचारों को एकत्र कर दिया गया है। जिस प्रकार सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक विषयों में ऋषि दयानन्द ने भारत के सर्व सम्प्रदायों को सीधा मार्ग दिखलाया, उसी प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी अपने आपको अनुभवी ऋषि सिद्ध किया। आध्यात्मिक क्षेत्र में पौराणिक हिन्दुओं, जैनियों, सिक्खों को जगा कर मुसलमानों को भी 'शिर्क' के गढ़े में से निकलने के लिये उत्साहित किया। आर्थिक क्षेत्र में आज से पचास वर्ष पूर्व स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार पर बल देकर आर्य पुरुषों के पश्चिम की ओर झुकते हुए भाव को उसी स्थान में रोक कर स्वदेश के गौरव की ओर निर्देश किया। सामाजिक क्षेत्र में सब कुरीतियों के दोष दिखला कर उत्तम रीति के संस्कार सारी प्रजा पर डाले और राजनीतिक क्षेत्र के सुधार के लिये भी मूल सिद्धान्तों का विशद रूप से उत्तम शब्दों में वर्णन कर दिया।

उस समय ऋषि दयानन्द के बतलाये हुए वेद-प्रतिपादित राजनीतिक

सिद्धान्तों पर अमल करने का बड़े से बड़े राजनीतिक नेताओं को भी साहस नहीं होता था। ऋषि दयानन्द उस समय की भारतीय प्रजा के विचारों से आधी शताब्दी आगे बढ़ गये थे। इस लिये उनके श्रद्धालु अनुयायियों पर भी उनकी शिक्षा ने असर न किया। मेरी दृष्टि में अकेले गुरुदत्त विद्यार्थी थे, जिन्होंने ऋषि के प्रत्येक रहस्यपूर्ण वचन को समझा था और यदि वह पच्चीस वर्ष की आयु में ही हम सब से बिछुड़ न जाते, तो जो चमत्कार भारतवर्ष में सम्वत् १९७६ के अन्दर दिखाई दिया, उसका आरम्भ बीस वर्ष पूर्व ही हो जाता।

ग्रन्थकर्ता ने ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय स्वरूप का चित्र खींचते हुए उनके राजनीतिक सिद्धान्तों को एक स्थान में एकत्र कर दिया है। दयानन्द-जन्म शताब्दि के समय यह भी एक लाभदायक और आवश्यक भेंट है। जब धर्म, अर्थ, काम तीनों ही क्रमशः मुक्तिधाम तक पहुँचाने के साधन हैं, तब राजनीति को उपेक्षा की दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता

आज से साठ वर्ष पूर्व हिन्दू जनता ने अपने आपको जन्म-जन्मान्तर से दास समझ लिया था। विदेशी कहते थे कि प्रजातन्त्र राज्य की गन्ध भी आर्यों के प्राचीन शास्त्र में नहीं मिलती और स्वदेशीय उनकी इस उक्ति पर सिर झुका देते थे। हिन्दुस्तानी शिक्षितों की दृष्टि में संस्कृत भाषा के अन्दर कोई बुद्धिमत्ता की बात ही दिखलाई नहीं देती थी। राजा राममोहन राय ने उपनिषदों के गौरव को अनुभव कर वैदिक ज्ञान की ओर कुछ निर्देश किया। उनके प्रयत्न से उठाये गये आन्दोलन को बाबू केशवचन्द्र सेन आदि उत्तराधिकारियों ने दबा कर खिष्ट्रीय सैमिटिक संस्कृति की शरण ली, जिससे वैदिक सूर्य के गिर्द घिरे बादल और भी

घने हो गये। परमार्थ को स्वार्थ से अलग करने का मत अधिक से अधिक बढ़ता गया। ऐसे अन्धकारावृत समय में ऋषि दयानन्द ने ऐसा आत्मिक यज्ञ रचा कि उसके अग्निरूपी दूत ने अविद्या के बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया और चकित संसार ने वैदिक सूर्य के दर्शन किये। तब सिद्ध हुआ कि स्वार्थ और परमार्थ, इह लोक और पर लोक, राजनीति और धर्म सब के सब एक ही शरीर के भिन्न-भिन्न आवश्यक अङ्ग हैं। ये बाह्य रूप में एक दूसरे से पृथक् दिखाई देते हुए भी एक ही केन्द्र के गिर्द घूमते हैं और एक ही स्रोत से निकले हुए नाले हैं, जो अन्त को उसी स्रोत में विलीन हो जाते हैं।

गत वर्षों के राजनैतिक आन्दोलन ने स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रों को स्वतन्त्र करने का जो मार्ग ऋषि-दयानन्द बतला गये थे, उसी के अवलम्बन से संसार में सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थ को भारतवर्ष के राजनीतिक नेता तथा आर्यसामाजिक पुरुष मनन करने के उद्देश्य से पढें और तत्ववेत्ता दयानन्द के बतलाये हुए मार्ग पर चलने के लिये उनके अपूर्व ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का स्वाध्याय अवश्य करें; क्योंकि जिस पथदर्शक ने सत्य-मार्ग दिखाया है, वही उस मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो का हल भी बतला सकता है।

पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने इस ग्रन्थ के अन्दर वैदिक राष्ट्रीय भावना को पुष्ट कर 'प्रजातन्त्र राज्य', 'स्वराज्य', 'साम्राज्य', 'चक्रवर्ती राज्य' और 'राष्ट्रसंघ' की व्यवस्था पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है और ऋषि दयानन्द के लेखों का यथास्थान उद्धरण देकर सिद्ध कर दिया है कि

राजनीतिक क्षेत्र में भी साधारण सांसारिक नेताओं कि अपेक्षा तत्वदर्शी ऋषि अधिक विश्वसनीय अगुआ बन सकता है।

देहली
२६ पौष सं० १६८१

---श्रद्धानन्द संन्यासी

विषय सूची

१
ऋषि का साम्राज्यवाद

दो युवक पत्रकार शाम के समय, दिनभर की पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर की मेहनत-मजदूरी के बाद, अपने दफ्तर से टहलने को निकले। नागपुर कांग्रेस के बाद का १९२० का वह जमाना था। तब असहयोग-आंदोलन अपने यौवन पर था। एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्ति की भावना और कल्पना लोगों के दिल और दिमाग में एक अजीब मस्ती पैदा किये हुये थी। देसी भाषाओं के पत्रों के पत्रकार कुछ स्वभाव से ही उग्र और राष्ट्रवादी होते हैं। लिखने के समान उनकी बात-चीत का भी विषय सिवा राष्ट्रवाद के और क्या हो सकता है? फिर, यदि ये पत्रकार नवयुवक हों, तो कहना ही क्या है? मैं अभी गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी हरिद्वार से स्नातक होकर निकला था और मेरे साथी मराठा युवक ने भी कालेज की पढ़ाई के साथ अभी-अभी असहयोग करके इस क्षेत्र में प्रवेश किया था। दोनों हम उमर थे और अकस्मात् दोनों का पेशा या धन्धा भी एक ही था। अगल-बगल में ही दोनों का दफ्तर था। एक ही प्रेस में दोनों पत्र-"राजस्थान केसरी" हिन्दी का साप्ताहिक और "तरुण महाराष्ट्र" मराठी का साप्ताहिक मुद्रित हुआ करते थे। इससे प्रायः सारा ही दिन आस-पास में गुजरा करता था। शाम को प्रायः रोज हम दोनों एक साथ घूमने जाया करते थे। राजनीतिक विषयों की चर्चा दिल खोल कर हुआ करती थी। गान्धीजी के 'स्वराज्य' शब्द का अभिप्राय उन दिनों में काफी वहम का

विषय बना हुआ था। उस दिन इसी विषय पर चर्चा छिड़ गई। मेरे मित्र "तरुण महाराष्ट्र" के सम्पादक ने मुझ से पूछा कि आप स्वराज्य शब्द से क्या अभिप्राय लेते हैं ? बात-चीत का सिलसिला बहुत आगे तक बढ़ गया। इसी सिलसिले में मैंने कहा कि हम लोगों की राष्ट्रीय भावना या राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का अन्तिम लक्ष्य तो सारे संसार में "हिन्दुस्तान का अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम साम्राज्य" स्थापित करना है। इससे कममें हमें सन्तोष नहीं हो सकता। मेरे मुंह से ये शब्द सुनते ही वे विस्मय में पड़ गये। उन्होंने कहा कि फिर तो आप इंग्लैण्ड में भी हिन्दुस्तान की हकूमत कायम देखना चाहेंगे। मैंने कहा--'जरूर' इसमें सन्देह ही क्या है ? हमारा सन्तोष तो तब होगा, जब सारे संसार में और इसी से इंग्लैण्ड में भी हमारे देश की विजय-वैजयन्ती शान के साथ फहराने लगेगी। केवल अपने देश को अंग्रेजों के हाथों से स्वाधीन कर लेना तो उसकी भूमिका-मात्र है।" मेरे इन शब्दों ने उन्हें और भी अधिक अचंभे में डाल दिया। मैं उनके इस आश्चर्य और विस्मय को समझने में असमर्थ था। बात आगे बढ़ती गई। उन्होंने पूछा कि यह भावना, कल्पना या आकांक्षा मुझ में कहां से पैदा हुई ? मैंने सरल स्वभाव से जवाब दिया कि आर्यसमाज की स्थापना इसी भावना, कल्पना या आकांक्षा की आधार-शिला पर की गई है। मेरा यह जवाब उनके लिये और भी अधिक आश्चर्यजनक था। जिस संस्था को उसके अनुयायी और अधिकांश नेता भी जब विशुद्ध धार्मिक एवं समाज-सुधारक संस्था माने हुये हैं और जब उन्होंने राजनीति से पीठ मोड़ कर सांप्रदायिक मामलों में ही रस लेना शुरू किया हुआ है, तब उनका तो कहना ही क्या है, जिन्होंने आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक

ऋषि दयानन्द का सिर्फ नाम सुना है और उनके बारे में कुछ भी जानकारी हासिल नहीं की है। निवास-स्थान पर लौट आने पर मैंने उनको "सत्यार्थप्रकाश" के कुछ पन्ने उलट कर दिखाये, तब तो उनके आश्चर्य का कहना ही क्या था? जिसे वे बाइबिल, कुरान या पुराण के समान केवल धार्मिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ माने हुये थे, उसमें राजनीति की चर्चा, अपने देश के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का पेश किया गया दावा देख कर वे स्तम्भित रह गये। कई महीनो तक यह विषय आपस में चर्चा का विषय बना रहा। अपने मित्रों से मेरा परिचय कराते हुये आम तौर पर वे इसी का उल्लेख किया करते थे। उनके लिये उस दिन से मेरे ये विचार कुतुहल का विषय बन गये।

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना १९२४ की, तब की है, जब मथुरा में ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दि मनाई गई थी। इसी शताब्दि के निमित्त से नागपुर मे भी भिन्न-भिन्न मुहल्लों में सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया था। टाऊन-हाल के मैदान में अन्तिम सभा की गई। मैंने उसमें स्वामी जी की राजनीतिक महत्वाकाक्षा को प्रकट करने के लिये एक ही बात कही। मैंने कहा कि हिन्दुस्तान की राजनीतिक क्रान्ति के इतिहास में दिलचस्पी रखने वाले श्री श्यामजीकृष्ण वर्मा का नाम तो जानते हैं; लेकिन, उनके गुरु स्वामी दयानन्द का नाम नही जानते। वे यह भी जानते हैं कि हिन्दुस्तान की क्रान्तिकारी भावनाओ को उद्दीप्त करने में श्रीश्यामजीकृष्ण वर्मा का बहुत बड़ा हाथ है; लेकिन, वे यह बिलकुल भी नही जानते कि उनके हृदय में इन भावनाओं का बीजारोपण करने वाले

उनके गुरु स्वामी दयानन्द थे। स्वामी जी ने ही उनको विदेश भेजा था। महाराष्ट्र में उन दिनों में पढ़े-लिखे लोग भी आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द का सिर्फ नाम जानते थे। उनके कार्य का उनको बहुत कम परिचय था। नवयुवक मित्रों पर इस घटना के वर्णन का अद्भुत प्रभाव पड़ा और उनमें स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानने की रुचि पैदा हुई। उन्हीं दिनों में मैंने इस पुस्तक का पहिला संस्करण "दयानन्द दर्शन" के नाम से लिखा था। कई मित्रों को मैंने यह पुस्तक दी। मैंने अनुभव किया कि कोरे धार्मिक एवं सामाजिक प्रचार की अपेक्षा स्वामी दयानन्द के इस राष्ट्रीय दर्शन ने उनको सहसा मोह लिया।

राजनीति से दूर रहने में ही अपना कल्याण मानने वाले आर्यसमाजी भाई, दुर्भाग्य से जिनके हाथों में इस समय आर्यसमाज की किस्मत दे दी गई है, राजनीतिक विचार रखने वाले इन पंक्तियों के लेखक सरीखों को कांग्रेसी बता कर आम आर्य जनता की नजरों में उन्हें गिराना चाहते हैं। यह कहा जाता है कि ऐसे लोग आर्यसमाज को कांग्रेस का पुछल्ला बना देना चाहते हैं। लेकिन, वे आयने में अपना मुंह नहीं देखना चाहते और यह नहीं मानना चाहते कि उन्होंने आर्यसमाज को हिन्दू महासभा सरीखी साम्प्रदायिक संस्था का पुछल्ला बना कर आर्यसमाज को सर्वथा निस्तेज, एकदम अकर्मण्य और निरी साम्प्रदायिक संस्था बना दिया है। तेजस्वी संस्थाओं में आर्यसमाज की गणना न होने का एकमात्र कारण ऐसे लोगों का आर्यसमाज पर आधिपत्य होना है। आर्यसमाज के हाथों मे देश के नेतृत्व की बागडोर निकल गई है। राजनीतिक क्षेत्र में उसका कोई प्रभाव न रहने से दूसरे क्षेत्रों का नेतृत्व भी उससे छिन गया है। वर्तमान युग

में राजनीति सार्वजनिक जीवन का आत्मा है। उसी की धुरी के चारों ओर बाकी सब समस्यायें घूमती हैं। उसकी उपेक्षा करने वाली संस्थाओं की स्थिति निष्प्राण शरीर की-सी हो जाती है। उनकी महत्वाकांक्षाये मुरझा जाती हैं। दिल की उमंगें फीकी पड़ जाती हैं। चेतना नष्ट हो जाती है। दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करने वाली चुम्बक शक्ति बुझ जाती है। आर्यसमाज का डेढ़ सदी का इतिहास ही क्यों, सभी संस्थाओं का इतिहास इसका साक्षी है। सिखों का प्रारम्भ किसी भी रूप में क्यों न हुआ हो; लेकिन, उनका अभ्युदय, उन्नति और प्रगति तब चरम सीमा पर पहुंचीं, जब दसवें गुरु श्रीगोविन्दसिंहजी महाराजने उनको 'खालसा' या 'अकाली' के नाम से नया जन्म दिया। उसी का परिणाम यह हुआ कि उन वीरों ने उस पंजाब में सिख साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें आज साम्प्रदायिकता का बोलबाला है और जहां राष्ट्रीयता का पनपना इन दिनों में इतना कठिन माना जाने लगा है कि उसे "हिन्दुस्तान का अलस्टर" कहा जाता है। सिखों में त्याग, तपस्या और बलिदान का माद्दा आज भी किसी से कम नहीं है। ननकाना और गुरु का बाग आदि में उन्होंने जिस दिलेरी का परिचय दिया है, वह विस्मयजनक है। लेकिन, उनकी महत्वाकांक्षा आज केवल गुरुद्वारों तक सीमित रह गई है। 'ग्रन्थसाहब' की पूजा करना उनके कर्तव्य-कर्म की अन्तिम रेखा बन गई है। अमृत छका कर कड़ा-कच्छ-कृपाण-कंघा व केश धारण करा कर अपनी मर्दुमशुमारी बढ़ा लेना उनके पुरुषार्थ की चरम सीमा हो गई है। इसी से आज वह तेज, ओज एवं वीर्य नष्ट हो चुका है, जिसके बल पर पंजाब में सिख-साम्राज्य की स्थापना की गई थी। साम्राज्य की आकांक्षा आज है ही कहां? वह

नष्ट हो चुकी है। मराठों में स्वामी रामदास जी महाराज ने "दासबोध" लिख कर जिस राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा को जन्म दिया था, उसी का परिणाम था कि वे पूना से पानीपत तक चढ़ आए थे और सारे हिन्दुस्तान में मराठा-साम्राज्य को कायम करने का भव्य चित्र उनकी आखो के सामने चौबीसों घण्टे नाचा करता था। छत्रपति शिवाजी महाराज के हृदय में स्वामी रामदास द्वारा चिंगारी की तरह सुलगाई गई यह भावना इस प्रकार धाय-धाय करके सुलग पड़ेगी,--यह कौन जानता था? लेकिन, वह बुझ कर राख हो गई है और हर कोई उस पर पैर रख कर निस्संकोच आगे बढ़ जाता है। क्यों? केवल इसलिए कि मराठों मे वीरत्व होते हुए भी वह महान् राजनीतिक भावना और आकाक्षा शेष नहीं रही है। उसका अन्त होने के साथ ही मराठों के तेज का दीपक भी बुझ गया। छत्रपति शिवाजी महाराज की पूना मे मूर्ति को स्थापित करने और शिवाजी मन्दिर बनवाने में ही उनके अनुयायियो ने अपने पुरुषार्थ की इतिश्री मान ली है। उनके वंशज होने के नाते अपने को 'छत्रपति' कहाने वाले भी दूसरों के छत्र के नीचे गुलाम बने हुए हैं। इस्लाम का तब अभ्युदय हुआ, जब उसके पीछे विश्वव्यापी साम्राज्य कायम करने की प्रबल भावना काम कर रही थी। तब स्पेन से लेकर अफ्रीका और एशिया तक में उसका विस्तार हो गया था। खण्डहरो की तरह उस महान् साम्राज्य के अवशेष मुस्लिम राष्ट्रो का विश्व की राजनीति मे आज भी कुछ कम गौरव या महत्व नहीं है। लेकिन, उन दिनो की राजनीतिक महत्वाकाक्षा के भी खण्डहरो की ही सूरत में शेष रह जाने से उनका अस्तित्व इतना अर्थहीन हो गया है कि वे युरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रो के हाथ का खिलौनामात्र रह गए हैं।

स्वतन्त्र रूप में विश्व की राजनीति में अपने प्रभाव को काम में लाना उनके लिए सम्भव नहीं रहा है। गौतम बुद्ध का सन्देश सब संसार में चारों ओर तब फैला, जब कि इस देश में सम्राट् अशोक अपना साम्राज्य कायम कर चुके थे। यदि इतने बड़े साम्राज्य की शक्ति बौद्धों की पीठ पर न होती, तो बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान के बाहर फैल नहीं सकता था। आज हिन्दू यदि अस्सी करोड़ होने का दावा कर सकते हैं, तो सिर्फ इसलिये कि सम्राट् अशोक के सारे साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उनकी सहायता के लिए किसी समय उनकी पीठ पर थी। वह शक्ति नष्ट हुई कि इस देश में बौद्ध-धर्म सिर्फ इतिहास का विषय रह गया।

पिछले इतिहास के पन्नों को पलटने का कष्ट न उठा कर यदि हम वर्तमान इतिहास का ही कुछ अनुशीलन कर सकें, तो सहज में यह समझ में आ जायगा कि ईसाय्यत का इतना प्रचार ईसाई पादरियों ने नहीं किया, जितना ईसाई-साम्राज्यों ने किया है। युरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्यों के विस्तार के लिये 'बाईबिल' और ईसाई पादरियों से गोला-बारूद और फौजों की अपेक्षा भी कहीं अधिक काम लिया है। एक विचारक ने साम्राज्यवादी युरोपियन राष्ट्रों के साम्राज्य की समृद्धि के तीन साधन गिनाये हैं, जिन्हें उसने " बाइबिल, बियर और बेयोनेट " नाम दिया है। चीन को अपने प्रभाव में लाने के लिये वहां फौजों से पहिले ईसाई पादरी भेजे गये और वहां के लोगों को ईसाई बनाने के साथ-साथ अफीमची भी बनाया गया। हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज की जड़ों को पाताल तक पहुंचाने के लिये ईसाई पादरियों की टोलियों पर टोलियां भेजी गईं। फौजी छावनियों की अपेक्षा ईसाई मिशनों और ईसाई स्कूलों एवं कालेजों

की संख्या यहां कहीं अधिक है। इटली का तानाशाह मुसोलिनी और उस के देशवासी स्वयं पोप के आदेशों और बाइबिल के उपदेशों पर आचरण नहीं करते; लेकिन, अबीसिनिया की फतह के बाद वहां इतनी फौजें नहीं भेजी गईं, जितने पादरी भेजे गये। शस्त्रास्त्र की शक्ति, दमन एवं कानून के आतंक और पुलिस एवं अदालत के रौब से भी अधिक महत्व लोगों के दिल और दिमाग को जीतने में है,---इस सचाई को ईसाई-राष्ट्र खूब समझते हैं और वे यह भी जानते हैं कि ईसाय्यत का प्रचार इसका सब से बढ़िया साधन है। इसीलिये ईसाई राष्ट्रों के साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ ईसाय्यत का प्रचार भी स्वत: ही बढ़ता चला गया। ईसाई राष्ट्रों में अपने साम्राज्यों के विस्तार की भावना खत्म हुई कि ईसाय्यत का दीपक भी गुल हो जायगा। ईसाय्यत ईसाई राष्ट्रों के लिये जितनी सहायक साबित हुई है, उतना ही बल ईसाई राष्ट्रों से और उनकी साम्राज्य-वादी महत्वाकांक्षा से ईसाय्यत को मिला है। वर्तमान विश्वव्यापी महायुद्ध में जो आवाज सब से ऊंची सुनने में आ रही है, वह यह है कि यदि कहीं नाजीवाद और फासिटीवाद विजयी हो गये, तो संसार में से ईसाय्यत का नामोनिशां मिट जायगा। नाजीवाद और फासिटीवाद को ईश्वर, धर्म, सभ्यता और मनुष्यता का दुश्मन बता कर यह भय एवं आतंक फैलाया जा रहा है कि वे संसार में से इन सबको मिटा देना चाहते हैं। सचाई यह है कि यदि कहीं वे विजयी हो गये, तो ईसाई राष्ट्रों का साम्राज्य, प्रभुत्व एवं वर्चस्व दुनिया में से उठ जायगा और उसी के साथ ईसाय्यत का विस्तार भी मिट जायगा। आज संसार में ईसाय्यत का जो बोलबाला है, उसका कारण यही है कि उसकी पीठ पर ईसाई राष्ट्रों के साम्राज्य की पूरी शक्ति है।

ऋषि दयानन्द इस शक्ति के महत्व को खूब समझते थे। वे यह भली प्रकार जानते थे कि देश में स्वराज्य और विदेशों में भी अपने साम्राज्य के होने का महत्व क्या है? उनका धर्म कोरा कर्मकाण्डी सम्प्रदाय न था। वे वस्तुतः राजधर्म के उपासक थे। उनका धर्म व्यक्ति के लिये है और व्यक्तियों की ईकाई के बाद जब समष्टि का सवाल उपस्थित होता है; तब वे उस राजधर्म का प्रतिपादन करते हैं, जिसकी पहिली संख्या स्वराज्य है और उससे अगली है अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य। उनकी यह कल्पना और भावना उनके समस्त लेखों, समस्त ग्रन्थों और समस्त जीवन में ओतप्रोत है। जो पाठक, उनके लेखों, भाषणों, ग्रन्थों और जीवनी के विस्तार में नहीं जा सकते, वे यदि एक बार "सत्यार्थप्रकाश" के ही पन्ने उलट जाय, तो उन्हें हमारा अभिप्राय सहज में समझ में आ जायगा। "सत्यार्थप्रकाश" को आम तौर पर आर्यसमाज का बाईबिल मान लिया गया है। लेकिन, उसका वास्तविक महत्व बाईबिल से कहीं अधिक है। मनुष्य, समाज और राष्ट्र के जीवन का उसमें वह नक्शा खींच दिया गया है, जिसको सामने रख कर अभ्युदय और निश्रेयस दोनों का सम्पादन किया जा सकता है। "सत्यार्थप्रकाश" के छठे सम्मुल्लास में तो पूरी तरह राज-धर्म अथवा राजनीति की ही चर्चा की गई है। उसका प्रारम्भ इन शब्दों से किया गया है कि "अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः" अर्थात् इस प्रकरण में राज-धर्मों की व्याख्या करेंगे। मनुस्मृति के जिन श्लोकों से इस प्रकरण को शुरू किया गया है, उसमें कहा गया है कि अब उन राजधर्मों को कहेंगे, जिनमें यह कहा गया है कि राजा किस प्रकार का

होना चाहिये, कैसे कोई राजा बन सकता है और कैसे वह सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? धार्मिक किंवा साम्प्रदायिक ग्रन्थ में इस प्रकरण की और राज-धर्मों की व्याख्या की क्या जरूरत थी ? फिर ग्यारहवें समुल्लास में मतमतान्तर के खण्डन के बाद महाराज युधिष्ठिर से लेकर महाराज यशपाल तक के उन १२४ राजाओं की नामावली दी गई है, जिन्होंने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) को राजधानी बना कर यहाँ ४१५७ वर्ष ६ मास और १४ दिन तक राज्य किया है। जब आर्य सिद्धान्त के अनुसार वेदों में इतिहास नहीं माना गया है, तब आर्य सिद्धातो की व्याख्या करने वाले इस ग्रन्थ में और मतमतान्तर के खण्डन के प्रकरण के अन्त में इस इतिहास को देने की जरूरत नहीं होनी चाहिये थी। लेकिन, सच तो यह है कि "सत्यार्थप्रकाश" सिर्फ आर्य सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाला कोरा धार्मिक ग्रन्थ नहीं है। फिर स्वामी जी ने मतमतान्तर का खण्डन भी कोरी धार्मिक दृष्टि से नहीं किया है। इस प्रकरण को इस इतिहास के साथ समाप्त करने का यही अभिप्राय है कि सर्वसाधारण में फिर से अपने देश में अपना वैसा ही राज्य कायम करने की इच्छा या भावना पैदा हो, जैसा कि युधिष्ठिर से यशपाल तक चार सौ सदी से भी अधिक समय तक कायम रहा। इस खण्डन-मण्डन के प्रकरण के समान अन्य सब प्रकरणों में भी, "सत्यार्थ-प्रकाश" में अथ से इति तक, सर्वत्र यही भावना ओतप्रोत है। केवल ईश्वर, वेद, धर्म, आचार, विचार, सदाचार और कर्मकाण्ड तक आर्यसमाज को सीमित रखने में अपना और इसी से आर्यसमाज का भी कल्याण मान कर इस चेष्टा में लगे हुए लोग यह भूल जाते हैं कि "सत्यार्थ-

प्रकाश" में पहिले पाँच समुल्लासों में व्यक्तिगत अभ्युदय की चर्चा करने के बाद जब समष्टि के अभ्युदय की चर्चा शुरू की गई है, तब सबसे पहिले राजधर्म की व्याख्या की गई है। वेद, ईश्वर, जगत् की उत्पत्ति, विद्या, अविद्या, बन्ध, मोक्ष, आचार-अनाचार, भक्ष्याभक्ष्य और मतमतान्तर का खण्डन आदि के प्रकरण उसके बाद में रखे गये हैं। इसी से राजधर्म या राजनीति का महत्व प्रगट है। "सत्यार्थप्रकाश" में जहां भी कहीं स्वदेश की चर्चा की गई है, वहां ऐसा प्रतीत होता है, जैसे देशभक्ति का स्रोत फूट निकला हो। जहां कहीं देश की पराधीनता से पैदा हुई दुर्दशा का वर्णन किया गया है, वहां ऋषि के हृदय की व्यथा फूट पड़ती है और आंखों से अश्रुधारा बह निकलती है। अपने देश के प्राचीन गौरव का वर्णन पढ़ कर पाठक का हृदय भी अभिमान से फूला नहीं समाता।

सत्य तो यह है कि ऋषि के कार्य का राजनीतिक महत्व इस दृष्टि से कहीं अधिक है कि इस देश में अंग्रेजी राज के कायम होने के बाद वे पहिले व्यक्ति हैं, जिन्होंने देशवासियों के हृदय में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के दीपक को बुझते-बुझते बचाया है। इस महत्व की कीमत तब हमें कुछ पता चलती है, जब हम यह देखते हैं कि इसी को लेकर जर्मनी के तानाशाह हर हिटलर ने अपने देश या राष्ट्र को वर्साई की सन्धि की कब्र में से निकाल कर उन्नीस-बीस वर्षों में ही इतना शक्तिशाली, बलशाली, समृद्ध और सम्पन्न बना दिया है कि वह सारे विश्व के लिए भीषण संकट का कारण बन गया है। वह जिधर मुंह फिराता है, उधर ही प्रलय-सी मच जाती है। उस ने जर्मन-राष्ट्र और

जर्मन-साम्राज्य का जो सुनहरा चित्र जर्मनों के सामने अङ्कित किया, उससे उनके हृदयों में अदम्य राष्ट्रीय भावना समा गई। इसी प्रकार प्राचीन रोमन साम्राज्य की फिर से स्थापना करने की कल्पना ने इटालियनों के हृदयों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना को भर दिया। जापानियों के सम्मुख जापानी साम्राज्य का जो स्वप्न उपस्थित कर दिया गया है, उससे उनमें वह उन्माद पैदा हो गया है कि उनमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सरीखे राष्ट्र को भी ललकारने की सामर्थ्य समा गई है। यह राष्ट्रवाद का चमत्कार है। राष्ट्रीय भावना का अनिवार्य परिणाम है। ऋषि दयानन्द इस देश के निवासियों में इसी राष्ट्रीय भावना को और इसी राष्ट्रवाद को जगाना चाहते थे। वेद-मन्त्रों की राष्ट्रीय भावनापरक व्याख्या करने वाले वे पहिले ऋषि है। अपने आराध्य-देव ईश्वर की राजा, महाराजा और महाराजाधिराज तथा सम्राट् आदि के नामों से आराधना करने की सुन्दर एवं उत्कृष्ट परम्परा के सूत्रपात करने से भी उनकी राष्ट्रीय भावना का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। वेदभाष्य और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पढ़ने का जिनके पास समय नहीं है, वे एक बार 'आर्याभिविनय' को ही उठा कर देख जाय, तो उनको ऋषि की उस उत्कृष्ट राष्ट्रीयता का पता चल जायगा, जिसका स्रोत उन्हें उन वेदमन्त्रों में मिला है, जिन्हें केवल धार्मिक प्रार्थना का ही साधन माना जाता रहा है। इसी प्रकार "गोकरुणानिधि" पुस्तक उनकी राष्ट्रीयता के आर्थिक पहलू का एक जीता-जागता चित्र आंखो के सामने सहसा उपस्थित कर देती है।

इन पंक्तियों के लेखक को ऋषि की इस राष्ट्रीयता ने और स्वदेश

के लिये स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की उनकी महत्वाकांक्षा ने उसके विद्यार्थी जीवन में ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। जितनी अधिक उसने उनको जानने व समझने की कोशिश की, उसके हृदय पर उनके राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की छाप उतनी ही गहरी पड़ती चली गई। जब-जब उसने "सत्यार्थप्रकाश" का स्वाध्याय किया, उस पर उनकी राष्ट्रीयता का रंग गाढ़ा ही होता गया। १९२० के वर्धा के जेल-जीवन में उसने एक बार फिर उसका स्वाध्याय खूब मन लगा कर किया और उसी मनन का परिणाम इस पुस्तक का पहिला संस्करण "दयानन्द दर्शन" था। इस लिये वह यह नहीं मान सकता कि जो लोग स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता पर मुग्ध हैं और आर्यसमाज में राष्ट्रीय तेज को ओतप्रोत हुआ देखना चाहते हैं, वे सब सिर्फ कांग्रेसी होने से ही ऐसा चाहते हैं अथवा वे आर्यसमाज को कांग्रेस की पूंछ बना देना चाहते हैं। सच यह है कि स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता से ही वे कांग्रेसवादी बने हैं और आज वे अपने देश की मुक्ति के लिये होने वाली लड़ाई में पहिली पंक्ति में खड़ा होने में ही अपना परम सौभाग्य मानते हैं। आर्यसमाज यदि अपने संस्थापक ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता से विमुख न हुआ होता, तो देश की राष्ट्रीय किंवा राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, आश्चर्य नहीं कि, कांग्रेस की जरूरत ही न हुई होती। पानी जैसे अपना रास्ता आप बना लेता है, वैसे ही मानवीय भावनायें भी अपना रास्ता स्वयं बना लेती हैं। वे किसी नदी, नाले व नहर के भरोसे तालाब की चार दीवारी में बन्द नहीं रह सकतीं। आर्यसमाज में जब राष्ट्रीय भावनाओं के पनपने की गुंजाइश न

रही, तब उन्होंने अपना रास्ता बनाया और कांग्रेस के क्षेत्र में उन्हें पनपने का पूरा अवसर मिल गया। ऋषि के राष्ट्रवाद किंवा साम्राज्यवाद को पनपने के लिये भले ही आज आर्यसमाज में गुञ्जाइश न रही हो; लेकिन, कांग्रेस में वह पूरी तरह पनप रहा है। स्वामी दयानन्द की राजनीति कांग्रेस में खूब फल-फूल रही है। स्वदेशी, स्वराज्य, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के जो बीज ऋषि अपने हाथों इस भूमि में बखेर गये हैं, उनके फूटते हुए अंकुरों की रक्षा भले ही आर्यसमाज न कर रहा हो; लेकिन, उनकी रक्षा बराबर हो रही है और उन अंकुरों से पैदा होने वाले पौदे आकाश में सिर ऊँचा कर निरन्तर बढ़ रहे हैं। ऋषि की राष्ट्रीयता से गाँधीजी की राष्ट्रीयता का बाहरी रूप कितना भी भिन्न क्यों न दीख पड़ता हो; लेकिन, उनकी अन्तरात्मा भिन्न नहीं है, एक ही है। इसीलिये यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि ऋषि का राष्ट्रीय मिशन आर्यसमाज के उदासीन पड़ जाने पर भी पनप रहा है, फल-फूल रहा है और चारों ओर फैल रहा है। उनकी राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा देशवासियों के हृदयों में पूरी तेजी के साथ समा रही है।

२

ऋषि का राष्ट्रवाद

साम्राज्यवाद की पहिली सीढ़ी राष्ट्रवाद है। इसी से ऋषि दयानन्द ने अपने देश के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना करते हुए जो आदेश दिया है, वह यह है कि "मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्तितव्यम् । प्रथमं अत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्तीराज्यश्री-प्राप्तिकरणम् । द्वितीयं सर्वा विद्याः पठित्वा तासां सर्वत्रप्रचारीकरणम् ।" इसका अभिप्राय यह है कि "मनुष्य को सदा दो प्रयोजन अपने सामने रख कर उनकी पूर्ति के लिए अपना सब व्यवहार करना चाहिए। पहिला यह कि अत्यन्त पुरुषार्थ करके और शरीर को स्वस्थ रख कर वह चक्रवर्ती राज्यरूपी श्री का सम्पादन करे और दूसरा यह कि वह सब विद्याओं को पढ़ कर सब जगह उनका प्रचार करे ।" यजुर्वेद के पहिले अध्याय के छठे मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने ये पंक्तियां लिखी हैं। राजनीतिक भावना को और स्वराज्य की स्थापना को विद्या-प्रचार या धर्म-प्रचार से पहिला स्थान दिया गया है। मनुष्य-जीवन के लिये निर्धारित किये गए कार्यक्रम में उसका उन्होंने पहिला स्थान रखा है। ऋषि दयानन्द के हृदय में स्वदेश का, मातृभूमि का, आर्यावर्त का सर्वोपरि स्थान था। आज कहने वाले आवेश में आकर, जनता की धार्मिक भावनाओं को उभाड़ने के लिए और श्रोताओं से तालियां पिटवाने के लिए यह कह जाते हैं कि उनके एक हाथ में यदि स्वराज्य और दूसरे में वेद हो, तो वे

स्वराज्य को हाथ से छोड़ देंगे: लेकिन, वेद को नहीं; क्योंकि वेद से वे स्वराज्य हासिल कर सकते हैं और स्वराज्य से वेद उन्हें नहीं मिल सकेगा। ऐसा कहना ऋषि दयानन्द की भावना, कल्पना, आदेश और उपदेश के सर्वथा विपरीत है। उनकी नजरों में 'स्वराज्य' की कीमत 'वेद' से किसी भी अंश में कम नहीं थी। उनके लिए स्वराज्य या चक्रवर्ती राज्य का स्थान पहिला और वेद अथवा विद्या का दूसरा है। उनकी देशभक्ति या राष्ट्रभक्ति की भावना इतनी पवित्र, उत्कृष्ट और सर्वव्यापी थी कि उनके सारे जीवन में और जीवन के समस्त कार्यों में मनुष्य के देह में रुधिर की तरह समाई हुई थी। "सत्यार्थप्रकाश" के ग्यारहवें समुल्लास में वे लिखते हैं कि "यह आर्यावर्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसीलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्ण आदि रत्नों को उत्पन्न करती है।"................" जितने भूगोल में देश हैं, वे सब इसी देश की प्रशंसा करते और आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है, वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारस-मणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" ग्यारहवां समुल्लास खण्डनात्मक है और ये पंक्तियां भी खण्डनात्मक प्रकरण में से ही ली गई हैं। प्रार्थनासमाजियों और ब्राह्मसमाजियों की आलोचना करते हुए वे कितनी वेदना और व्यथा के साथ यह लिखते हैं कि "इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है।" ...."भला जब आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते-पीते हैं, तब अपने माता-पिता व पितामहादि के मार्ग को छोड़ दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना

और एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़ के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना, मनुष्यों का स्थिर और वृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?" स्वदेश, स्वभाषा तथा स्वधर्म से प्रेम और अपने पूर्वजों के लिए गौरव एवं अभिमान ऊपर की पंक्तियों के एक-एक शब्द से टपक रहा है।

कितने दुःख,व्यथा और वेदना के साथ वे लिखते हैं कि "विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना, बाल्यावस्था में अस्वयम्वर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" "जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।"..........."आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया; परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःख सागर में डुबो मारेगा। उसी दुष्ट गोत्र-हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमात्मा कृपा करें कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।"........इसी प्रसंग में ऋषि लिखते हैं कि "जब तक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।" ये पंक्तियाँ भक्ष्याभक्ष्य और आचार-अनाचार के प्रकरण दसवें समुल्लास में से ली गई हैं। इसी प्रकरण में समुद्र-यात्रा की चर्चा करते हुये ऋषि ने लिखा है कि "क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य व व्यापार

किये स्वदेश की उन्नति कभी हो सकती है ? जब स्वदेश में ही स्वदेशी लोग व्यवहार करते और परदेशी स्वदेश में व्यवहार व राज्य करें, तो बिना दुःख और दारिद्रय के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।" ....इसी प्रसंग में आगे वे कहते हैं कि "इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगा कर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।" दूसरे देशों में, द्वीप-द्वीपान्तर और देश-देशान्तर में, राज्य एवं व्यापार करते हुये स्वदेश को समृद्ध एवं वैभवशाली बनाने की भावना ऋषि दयानन्द के हृदय में किस प्रकार भरी हुई थी,—यह ऊपर की पंक्तियों से बिलकुल स्पष्ट है। उस पर किसी प्रकार की टीकाटिप्पणी करने की जरूरत नहीं।

स्वराज्य की कल्पना

ऋषि दयानन्द की स्वराज्य-कल्पना कितनी सुन्दर, उत्कृष्ट और विशुद्ध है, यह भी उनके लेखों से स्पष्ट है। आज से ५०-५५ वर्ष पहिले जब स्वामीजी ने स्वराज्य, साम्राज्य और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की चर्चा अपने लेखों में की थी, तब 'स्वराज्य' का विचार भी किसी के दिमाग में पैदा न हुआ था। कांग्रेस के भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी ने १९०६ में कांग्रेस में इस शब्द का उच्चारण किया था। होमरूल आन्दोलन के दिनों में इस शब्द का कुछ खुला प्रयोग होना शुरू हुआ था। १९१६ में लखनऊ-कांग्रेस में "स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार" होने की घोषणा करते हुए उसके प्राप्त करने का दावा लोकमान्य तिलक ने पेश किया था। १९२८ में कांग्रेस ने लाहौर में पूर्ण स्वराज्य की

घोषणा करके उसे अपने ध्येय के रूप में स्वीकार किया। लेकिन, स्वामी दयानन्द ने आधी सदी से भी पहिले जिस स्वराज्य की चर्चा की थी, उसका स्वरूप उनके अत्यन्त सरल, सीधे और साफ शब्दों में यह था कि "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय एवं दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

ऋषि दयानन्द ने यह विचार पश्चिम की उस शिक्षा-दीक्षा से नहीं लिया था, जिसका बहुत बड़ा अहसान अंग्रेज-शासकों की ओर से हमारे सिरों पर आम तौर पर लाद दिया जाता है, और हम भी बड़े अदब के साथ यह मान लेते हैं कि इस देश में पैदा हुई राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय एकता, राजनीतिक आकांक्षा और स्वराज्य की इच्छा इस देश को ब्रिटिश शासन की देन है। यह सौभाग्य ही समझना चाहिये कि ऋषि अंग्रेजी से सर्वथा अनभिज्ञ थे और उनकी अगाध विद्वत्ता का आधार एकमात्र संस्कृत का अध्ययन और संस्कृत-ग्रन्थों का स्वाध्याय था। न वे इंग्लैंड बैरिस्टरी पास करने गये और न यहां ही उन्होंने किसी अंग्रेजी स्कूल या कालेज में शिक्षा पाई। इसी से उनका जो कुछ भी था, वह अपना था, विशुद्ध भारतीय था और विदेशी प्रभाव से सर्वथा रहित था। वेद की ऋचाओं से, स्मृति ग्रन्थों के श्लोकों से और ऋषि-मुनियों के आप्त वचनों से उन्होने राष्ट्रवाद की शिक्षा और दीक्षा ली थी। उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। अथर्ववेद (१०-७-३१) का एक मन्त्र यहां दे देना बस होगा। वह यह है कि "यदजः प्रथमं संबभूव, सह

त्वत्स्वराज्यभियाय । यस्मन्नान्यत्परमस्ति भूतम् ।" अर्थात् "जब कि कर्मयोगी प्रजागण सब से प्रथम संगठित होता है, तब वह स्वराज्य प्राप्त करता है, जिससे श्रेष्ठ दूसरा कोई राज्य नहीं है ।" इस वेद मन्त्र के आशय को ऋषि ने खोलकर उन शब्दों में दे दिया है, जो कि ऊपर दिये गये हैं। इससे दो भाव प्रगट होते हैं। एक तो यह कि राष्ट्र या स्वराज्य के लिये संगठन पहली शर्त है। देशवासियों के संगठित हुए विना राष्ट्रीय भावना न पनप सकती है और न सुदृढ़ हो सकती है। विना उसके 'स्वराज्य' का सम्पादन नहीं किया जा सकता। दूसरा भाव यह है कि 'सुराज्य' 'स्वराज्य' का स्थान नहीं ले सकता; बल्कि अपना राज्य कुछ खराब भी क्यों न हो, वह परायों, विदेशियों और आक्रान्ताओं के सुराज्य यानी अच्छे से अच्छे राज्य से भी कहीं अधिक अच्छा है। मतमतान्तर के आग्रह से रहित, जैसा कि महारानी विक्टोरिया की घोषणा को लेकर अंग्रेज अपने राज्य को बताते हैं; अपने पराये का पक्षपातशून्य, जैसा कि अपनी अदालतों के न्याय की दुहाई देते हुए अंग्रेज अपने शासन को कहते हैं और प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ जैसा कि अपनी हकूमत के बारे में आम तौर पर अंग्रेज दावा पेश करते हैं;—महर्षि कहते हैं कि विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है। कोई कितना ही करे, जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। कितनी सुन्दर यह कल्पना है, कितनी उज्ज्वल यह भावना है और कैसा उत्कृष्ट यह राष्ट्रवाद है? अंग्रेजी राज्य को इस कसौटी पर कसने की जरूरत नहीं। स्वामी दयानन्द का अनुयायी इस या किसी भी विदेशी राज्य का भक्त नहीं हो

सकता। यदि वह उसका भक्त है, तो वह अपने को स्वामी दयानन्द का अनुयायी और सच्चा आर्यसमाजी नहीं कह सकता।

साम्राज्य और चक्रवर्ती राज्य

ग्यारहवे समुल्लास से "सत्यार्थप्रकाश" के खण्डनात्मक प्रकरण का आरम्भ होता है। उसकी प्रारम्भिक पंक्तियो से ऋषि दयानन्द की उस भावना का पूरा परिचय मिल जाता है, जिससे प्रेरित होकर उनको मतमतान्तर के खण्डन का कठोर, कटु और अप्रिय कार्य करने के लिये मजबूर होना पड़ा। उसके प्रारम्भ मे ही ऋषि लिखते हैं कि "सृष्टि से लेकर पाच सहस्र वर्षों से पूर्व समय पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माडलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे।" ...."स्वायम्भुव राजा से लेकर पॉडवो पर्यन्त आर्यो का चक्रवर्ती राज्य रहा, तत्पश्चात् परस्पर के विरोध से लड़ कर नष्ट हो गये, क्योकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगो का राज्य बहुत दिन नही चलता।" मैत्र्युपनिषद के कुछ वाक्य उद्धृत करने के बाद आप लिखते हैं कि "इत्यादि प्रकरणो से सिद्ध है कि सृष्टि से लेकर महाभारत पर्यन्त चक्रवर्ती सार्वभौम राजा आर्य-कुल में ही हुए थे। अब इनके सन्तानो का अभाग्योदय होने से राज्य भ्रष्ट होकर विदेशियो के पादाक्रात हो रहे हैं।" आठवे समुल्लास मे भी ऋषि ने लिखा है कि "अब अभाग्योदय से और आर्यो के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशो में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त मे भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय

नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दैव जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ जाता है।" हिटलर और मुसोलिनी ने जैसे अपने देशवासियों के सामने जर्मन-साम्राज्य और रोमन-साम्राज्य के गत वैभव एवं गौरव की गाथायें उपस्थित करके उनके हृदयों में राष्ट्रवाद की भावना को पैदा किया है, ठीक वैसे ही ऋषि दयानन्द इन सब सचाइयों को उपस्थित करके अपने देशवासियों के हृदयों में उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावनाओं को जगाना चाहते थे। जिन लोगों ने लाखों वर्षों तक संसार में अखण्ड और सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का उपभोग किया है, वे आज गुलाम बने हुए हैं। उनके हृदयों में यदि अपनी गुलामी के प्रति तीव्र घृणा पैदा हो जाय और अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की महत्वाकांक्षा उनके हृदयों में समा जाय, तो उनका दमन करने का सामर्थ्य संसार में किसको हो सकता है ? यही स्वाभिमान और महत्वाकांक्षा ऋषि दयानन्द अपने देशवासियों की नस-नस में भर देना चाहते थे। आज हिटलर और मुसोलिनी की आकांक्षाओं ने आसुरी वृत्ति धारण कर ली है। वे सारे संसार को अपना गुलाम बना लेना चाहते हैं। इसी प्रकार साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साम्राज्य का लक्ष्य दूसरों का शोषण, उत्पीडन और दमन रहा है। उनकी हकूमत ने दूसरों को नंगा, भूखा, दरिद्र और दुःखी बनाया है। पूंजीवादी साम्राज्यों ने दूसरों के पेट पर पैर रख कर अपना पेट भरा है। लेकिन, ऋषि के सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना यह नहीं है। पांचवें समुल्लास में राजधर्म की व्याख्या करने के बाद उसके अन्त में वे लिखते हैं कि "यह संक्षेप

से राजधर्म का वर्णन यहां किया है। विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय में और शुक्रनीति तथा विदुर प्रजागर और महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देख कर पूर्ण राजनीति को धारण कर के माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राजा राज्य करें और यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम।" हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।" जो राजा या सम्राट् अथवा उसके देशवासी राज्य या साम्राज्य से मदान्ध न होकर सदा यह याद रखेंगे कि वे भी किसी के किंकर, भृत्य अथवा नौकर हैं, वे सहसा अन्याय, अत्याचार और पापाचार करने पर उतारु नहीं हो सकते। उनके सामने तो सदा यही आदर्श रहेगा कि हम तो संसार में परमात्मा के सत्य और न्याय की प्रवृत्ति को फैलाने के लिये उसके सिर्फ निमित्तमात्र हैं। जिसने अपने को भगवान् का निमित्त बना और मान लिया, वह तो अर्जुन के समान अपने को कृष्ण के अर्पण कर देगा और तब उसके हाथो से इस संसार में कुछ भी अन्याय, पाप व अत्याचार न हो सकेगा। अपने को भगवान् के अर्पण कर उसका निमित्तमात्र मान लेने की भावना आज के एक दम गिरे हुये जमाने में भी हिन्दू राज्यों में प्रायः सर्वत्र पाई जाती है। प्रायः सभी हिन्दू राज्यों में कोई न कोई बड़ा देवी, देवता, मन्दिर अथवा भगवान् माना ही जाता है। प्रचलित भाषा में यद्यपि उसको राज का मन्दिर कहा जाता है; लेकिन, वास्तविकता यह है कि सारा ही राज्य उसका

माना जाकर राजा या महाराजा सिर्फ उसके प्रतिनिधि माने जाते हैं। टिहरी नरेश को 'बोलते बद्रीनाथ' कहने या मानने का और क्या मतलब है? त्रावणकोर का राज्य भगवान् पद्मनाभ का माना जाता है। प्रतिदिन सबेरे महाराज उसके दर्शन करने इस लिए जाते हैं कि वे राज्य शासन के संचालन के लिये प्रतिदिन उनसे आदेश एवं आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। राजस्थान तथा अन्य प्रदेशों के प्रायः सभी हिन्दु राज्यो मे यही व्यवस्था है। लेकिन, आज तो यह भावना भी हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की अन्य रुढ़ियो एवं परम्पराओं के समान केवल एक रुढ़ि और परम्परा रह गई है। उसकी आदर्शभूत आन्तरिक भावना सर्वथा नष्ट हो चुकी है। राजाओं ने राज्यों को अपनी निजी सम्पत्ति मानकर साहूकारों एवं जमीदारो के समान उनका उपभोग करना शुरू कर दिया है। अवस्था कितनी ही विकृत क्यों न हो गई हो, उसकी वजह से प्राचीन व्यवस्था एवं आदर्श को बुरा नही बताया जा सकता और उसकी उत्कृष्टता मिट नहीं जाती। ऋषि दयानन्द के सामने यही आदर्श था और इसी से प्रेरित होकर उन्होने अपने देश के पाँच हजार वर्ष पहिले नष्ट हुए गौरव की भावना को देशवासियों के हृदयो मे जगाने की कोशिश की थी। इस स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना को उद्दीप्त करना ही उनकी राजनीति का सार कहा जा सकता है। संसार में सत्य और न्याय की प्रवृत्ति हमारे हाथो से तभी हो सकती है, जब हमारे हाथों मे सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की बागडोर हो,—इस सचाई की ओर ऋषि ने इस प्रकरण में भी हमारा ध्यान एक बार फिर आकर्षित किया है। जो लोग आर्यसमाज को रांजनीति से सर्वथा दूर और अलिप्त

रख कर संसार में सत्य और न्याय की प्रवृत्ति के पैदा करने की इच्छा किये हुये हैं, वे कितनी बड़ी भूल में हैं ? क्या वे इसको जानने और समझने की कोशिश करेंगे ?

वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना

स्वराज्य किंवा साम्राज्य की कल्पना या भावना को देशवासियों के हृदयों में उभारने के लिये ऋषि ने वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थनाओं का जो सूत्रपात किया है, वह उनकी महान् राष्ट्रीयता की सब से प्रबल साक्षी है। उनकी उद्भट राष्ट्रीयता, देशप्रेम और राष्ट्रभक्ति का स्रोत वे वेदमन्त्र हैं, जिन्हें सिर्फ प्रार्थना के मन्त्रों के रूप में लिया जाता रहा है और यह समझा जाता रहा है कि वे जीवन की सिर्फ आध्यात्मिक जरूरत को पूरा करने के लिये हैं। इधर आर्यसमाजियों में भी यह बीमारी पैदा हो गई है कि वे वेदों को सार्वभौम मानकर यह समझ बैठे हैं कि उनका एकदेशीय राजनीति से कुछ भी सम्बन्ध हो नहीं सकता। देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति, स्वराज्य की भावना, स्वाधीनता की इच्छा और स्वतन्त्रता की आकांक्षा के एकदेशीय होने से ही वेदमन्त्रों के साथ उनका कोई सम्बन्ध होने की बात अनेक आर्यसमाजी स्वीकार ही नहीं करते; बल्कि वे उसका विरोध करने पर आमादा हो जाते हैं। लेकिन, उनके मत का समर्थन स्वामी दयानन्द के लेखों से नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द की विशाल भावना में उनकी इस संकुचित कल्पना के लिये कोई स्थान नहीं है। यह उसके सर्वथा विपरीत और विरोधी है।

आज हिटलर और मुसोलिनी की जिस लालसा को आसुरी और महत्वाकांक्षा को राक्षसी कह कर उसकी निन्दा की जाती है, वह वेदमन्त्रों में भी

प्रगट की गई है। हम रोज दिनमें बारह बार यह प्रार्थना करते हैं कि "योऽस्मान् द्वेष्टि,यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः।" अपने भगवान् से हम यह कहते हैं कि जो हम से द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें, उसे हम आपके जबड़े में इसलिये देते हैं कि आप उसका नाश कर डालें। इस प्रार्थना का और क्या अभिप्राय है ? मानसिक शुद्धि के लिये जिन मन्त्रों से मनसा परिक्रमा का सन्ध्या में विधान किया गया है, उस के सभी मन्त्रों में इस प्रार्थना का समावेश किया गया है। छः बार सबेरे और छः बार शाम को यह प्रार्थना की जाती है। इसकी व्याख्या जिस अद्भुत ढंग से आर्य विद्वान् करते हैं, उसकी चर्चा हम यहां नहीं करना चाहते और न हम किसी बहस में पड़ना चाहते हैं। हम जिस अभिप्राय की ओर संकेत कर रहे हैं, वह स्पष्ट और सन्देह से रहित है। ऋषि का किया हुआ सारा ही वेद भाष्य हमारे अभिप्राय का सोलहों आना समर्थक है। जो व्यक्ति अपने आराध्य देव का राजा, महाराजा, सम्राट् आदि के नामों से स्मरण करता है, वह किसी पराये की पराधीनता कभी स्वप्न में भी स्वीकार नहीं कर सकता और उसे स्वदेश का पराधीन रहना एक क्षण के लिये भी सहन नहीं हो सकता। ऋषि दयानन्द की ऐसी ही भावना थी। इसी से उनके वेद-भाष्य में राष्ट्रीय भावना अथ से इति तक ओतप्रोत है। गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक पालीरत्न पण्डित चन्द्रमणिजी विद्यालङ्कार ने ऋषि के वेद भाष्य के आधार पर एक छोटी-सी सुन्दर और उपयोगी पुस्तक "स्वामी दयानन्द का वैदिक स्वराज्य" नाम से लिखी है। गुरुकुल में वेद के उपाध्याय रहने से उनको स्वामीजी के वेद भाष्य के पारायण करने का अवसर सहज ही में प्राप्त हुआ है। यहां हम वेद भाष्य के

विस्तार में नहीं जाना चाहते। हम ऋषि की राष्ट्रीय प्रार्थना की ओर केवल एक संकेत कर देना चाहते हैं। वैदिक प्रार्थना की दृष्टि से "आर्याभिविनय" का स्थान स्वामीजी के ग्रन्थों में सब से ऊँचा है। उसके लिखने का एकमात्र उद्देश्य प्रार्थना-पुस्तक तय्यार करना था। यद्यपि उसकी भूमिका में स्वामीजी ने "आर्याभिविनय" के लिखने का तात्पर्य परमेश्वर का यथार्थ ज्ञान करा कर उसमें प्रेमभक्ति पैदा करना और उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना तथा धर्मादि विषय का वर्णन करना बताते हुए लिखा है कि "इस 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप में किया गया है, दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता," तो भी वह राष्ट्रीय प्रार्थना से ओतप्रोत है। परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करते हुए भी ऋषि की राष्ट्रीय भावना जहां-तहां प्रकट हो गई है और इसी से 'आर्याभिविनय' को वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना की पुस्तकों में भी बहुत ऊँचा स्थान मिल गया है। परमात्मा की प्रार्थना स्थान-स्थान पर राजा, साम्राज्य-प्रसारक, राज्यविधायक सम्राट्, महा-राजाधिराज, महाराजाधिराजेश्वर आदि उत्कृष्ट राष्ट्रीय संबोधनों से की गई है। यजुर्वेद के अड़तीसवें अध्याय के चौदहवें मन्त्र के "क्षत्राय पिन्यस्व" का अर्थ करते हुए ऋषि ने लिखा है कि "हे महाराजाधिराज परब्रह्म! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हो तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" यजुर्वेद के अध्याय छत्तीस का मन्त्र चौबीस सन्ध्या में रोज दो बार पढ़ा जाता है और ईश्वर से सौ वर्ष की आयु मांगते हुए "अदीनाः

स्याम शरदः शतम्" का वर मांगा जाता है। इसका अर्थ ऋषि लिखते हैं कि "हम सौ वर्ष की आयु में कभी पराधीन न हों और स्वाधीन ही रहें।" यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के उन्नत्तीसवें मन्त्र की व्याख्या में वे परमात्मा से कहते हैं कि "आपकी कृपा से 'स्वरगन्म' हम उत्तम सुख को प्राप्त हों, जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्ती राज्य आदि भोग से सुखी रहें।"

स्वदेशी की भावना

"देखो, अपने देश के बने हुए जूते को कार्यालय (आफिस) और कचहरी में जाने देते हैं, तथा देशी जूते को नहीं। इतने ही में समझ लो कि अपने देश के बने जूतों की भी कितनी मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतनी भी अन्य देशस्थ मनुष्यों की नहीं करते। देखो! कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आए युरोपियनों को हो गए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं, जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा, और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।" "सत्यार्थ-प्रकाश" के खण्डनात्मक प्रकरण के ग्यारहवें सम्मुल्लास में से ही ये पंक्तियां ली गई हैं। इनसे यह प्रगट है कि खण्डनात्मक प्रकरण भी स्वदेश-प्रेम एवं स्वदेशी की भावना से ओत-प्रोत है। स्वामी जी के जो वस्त्र अजमेर में सम्भाल कर आज तक रखे हुए हैं, वे सब शुद्ध खादी के हैं। अमृतवर्षी स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने "श्रीमद्दयानन्द प्रकाश" नाम से स्वामी जी की एक भावना-प्रधान जीवनी, अत्यन्त ओजस्वी शब्दों

में और बहुत ही तेजस्वी शैली में लिखी है। उसमें से एक प्रसंग हम यहां ऋषि की स्वदेशी की भावना को प्रगट करनेके लिए उद्धृत कर रहे हैं। वह यह है कि "एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावलीनिवासी अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंह जी के साथ स्वामी जी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आए। उस दिन ऊधोसिंह जी के वस्त्र नए ढङ्ग के थे और सब के सब विलायती कपड़े के बने थे। ऊधोसिंह जी कुछ काल जलेसर की पाठशाला में भी अध्ययन करते रहे थे। इसलिए महाराज उन्हें भली भाति जानते थे। स्वामी जी ने अति प्यार से कहा---"ऊधव! देखो, तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहनते हैं। उनका जाति बिरादरी में कितना सम्मान है। क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने नये वेश से विभूषित होकर अपने पिता जी से अधिक संस्कृत हो गये हो? ऊधव! अपने ही देश के वस्तु-वेश को अपनाने में शोभा है।" स्वामी जी का यह उपदेश ऊधोसिंहजी के हृदय में घर कर गया। उन्होंने अपने डेरे पर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।"

जिस व्यक्ति के हृदय में अपने देश के बने हुये जूते के लिये इतना मान-सम्मान हो कि वह उसका विदेशी जूते के मुकाबले में कचहरी या दफ्तर में न जाने देने तक का अपमान सहन न कर सकता हो, उसके हृदय में समाई हुई स्वदेशी की भावना का अनुमान सहज में किया जा सकता है। स्वामी जी की स्वदेशी की यह भावना सिर्फ कपड़े या वस्त्र तक ही सीमित न थी, बल्कि जीवन के हर अंग-प्रत्यंग में वह समाई हुई थी। विदेशी रंग-ढंग भी उन्हें पसंद न था। ब्राह्मसमाजियों और

प्रार्थनासमाजियों का विदेशियों की नकल करना भी उनकी दृष्टि में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान के सर्वथा विपरीत था। थियोसोफिस्टों के साथ मिल कर काम न करने के बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "जब अपने देश में सब सत्य विद्या, सत्य धर्म, ठीक ठीक सुधार और परम योग की सब बातें थीं और अब भी हैं, तब विचारिये कि थियोसोफिस्टों को एतद्देशवासियों के मत में मिलना चाहिये या आर्यावर्तियों को थियोसोफिस्ट होना चाहिये।" स्वदेशी की यह कितनी प्रबल भावना है? किसी भी मामले में विदेशियों के सामने सिर झुकाना या उनकी नकल करना वे सहन नहीं कर सकते थे। स्वदेशी के सम्बन्ध में उनके लिए जीवन के किसी भी अंग या प्रत्यंग में समझौते की जरा-सी भी और कुछ भी गुंजाइश न थी। आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और दिल व दिमाग में जरा-सा भी विदेशीपन आने देना उन्हें सहन नहीं था। वे सोलह आना ऐसे खरे स्वदेशी थे कि उनको विदेशीपन का मैल कहीं छू तक न गया था। उनका भाव, भाषा, संस्कृति, साहित्य आदि सभी कुछ विदेशीपन से सर्वथा अछूत या अलिप्त था और स्फटिक मणि के समान निर्मल एवं विशुद्ध स्वदेशी के रंग में रंगा हुआ था। कितनी पवित्र, उत्कृष्ट और उन्नत यह भावना थी? कहीं और इसका उदाहरण मिलना कठिन है।

सत्याग्रह किंवा असहयोग का आदर्श

महात्मा गांधी ने जिस रूप में सत्याग्रह और असहयोग को देशवासियों के सम्मुख पेश किया है, ठीक उस रूप में तो ऋषि दयानन्द ने उसे पेश नहीं किया। फिर भी दोनों की भावना अत्यन्त उग्र और स्पष्ट रूप में ऋषि

के जीवन और लेखों में समाई हुई मिलती है। सत्य के लिये उनका आग्रह उतना ही था, जितना कि गांधी जी का है और अपने जीवन की बाजी लगा कर भी वे अन्याय को मिटा देना ही मनुष्य का धर्म मानते थे। यह जरूर है कि महर्षि के लेखों में अहिंसा का प्रतिपादन उस रूप में नहीं है, जिसमें कि गांधी जी कर रहे हैं। लेकिन, अपने सारे जीवन में उन्होंने अहिंसा को अपनाया और निभाया है। यहां तक कि आततायी तक से बदला लेने की वृत्ति, प्रवृत्ति या भावना उनमें कभी भी पाई नहीं गई। अपने आततायी के लिये भी उनके जीवन का आदर्श यह था कि मैं संसार को बंधनों से मुक्त कराने आया हूं, उनमें फंसाने नहीं आया। अपने जीवन पर हमला करने वालों और धोखा देकर जीवन लेने की कोशिश करने वालों को भी उन्होंने बार-बार क्षमा प्रदान की और उनके प्रति कोई दुर्भावना तक अपने हृदय में नहीं आने दी। शाहपुर से जब ऋषि जोधपुर जाने को तैयार हुए, तब लोगों ने उनको रोका और उनसे कहा कि वहां के लोग बहुत निठुर प्रकृति के हैं, तब उन्होंने कहा कि "यदि लोग हमारी अंगुलियों को बत्तियां बना कर जला दें, तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहां जाकर अवश्य सत्योपदेश करूंगा।' इसी प्रकार का एक प्रसंग अजमेर का है। वहां तीन दिन तक ईसाई पादरियों से ईसाई-मत पर बहस होती रही। किसी बात पर चिढ़ कर पादरी शूलब्रेड ने स्वामी जी से कहा कि ऐसी बातों से आपको कभी कारावास की सजा भुगतनी पड़ जायगी। स्वामी जी ने गम्भीरता से मुसकराते हुए कहा कि "सत्य के लिए जेल जाना कोई लज्जा की बात नहीं है। धर्म-पथ पर आरूढ होकर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूं। प्रतिपक्षी लोग

यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलायेंगे, तो जहां कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक का कोई तरंग भी उत्पन्न न होगा, वहां मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण कामना भी कभी नहीं करूंगा। पादरी जी, मैं लोगों के डराने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फांसी पर लटका ही तो दिया था।" काशी में हुए सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में उन पर ईंटों व पत्थरों की वर्षा की गई, वे अविचल भाव से अपने आसन पर विराजे रहे। संसार का कोई भी भय, प्रलोभन, आपत्ति और संकट उन्हें सत्य-पथ से विचलित नहीं कर सका। अङ्गद के अंगूठे की तरह वे सत्य की चट्टान पर अडिग बने रहे। बड़े-बड़े मंदिरों की गद्दियों का महन्त-पद उन्हें ललचा नहीं सका। मेवाड़ का राज्य जिस नाथद्वारे के आधीन है, उसका अधिकार सौंपने का प्रस्ताव उनके सामने पेश किया गया और महाराणा ने स्वयं उनसे कहा कि "आप मूर्ति पूजा का खण्डन करना छोड़ दें। यह राजनीति के सर्व-संग्रह सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि आप यह स्वीकार कर लें, तो एकलिंग महादेव के महन्त की गद्दी आपकी है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मंदिर के समर्पित है, परंतु मंदिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी लाखों की आय है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जायगा। सारे राज्य के आप गुरु माने जायेंगे।" स्वामी जी ने इस पर झुंझला कर कहा कि "आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखा कर परमात्मदेव से विमुख किया चाहते हैं। उसकी आज्ञा भंग कराना चाहते हैं। राणाजी, आपके जिस छोटे से राज्य और मंदिर से मैं एक दौड़ लगा कर बाहिर जा सकता हूं, वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा-भंग करने के लिए विवश नहीं कर सकता। परमात्म देव के परम

प्रेम के सामने, इस मरुभूमि की मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है। लाखों मनुष्यों के विश्वास केवल मेरे भरोसे पर निर्भर हैं। मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजिएगा। मेरे धर्म की ध्रुव धारणा को धरा-धाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।" काश्मीर महाराज की ओर से पण्डित मनफूल साहब के भी ऐसा ही प्रस्ताव करने पर स्वामी जी ने कहा था कि "मैं लोगों को या महाराज साहब काश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञा का पालन करूं।" जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग उपस्थित किए जा सकते हैं। सत्य का यह आग्रह जैसे ऋषि के दिल और दिमाग में समाया हुआ था, वैसे ही उन्होंने आर्यसमाज की आधारशिला भी सत्य की नींव पर डाली थी। आर्यसमाज के दस नियमों में से चार में 'सत्य' का उल्लेख है। चौथा नियम यह है कि "सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" पाचवां नियम यह है कि "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।"

असहयोग के लिये ऋषि दयानन्द ने अप्रियाचरण के मार्ग का उपदेश या आदेश दिया है। सत्यार्थप्रकाश के अंत में स्वमंतव्या-मंतव्य प्रकाश के प्रकरण में मनुष्य का लक्षण करते हुए और उसका धर्म बताते हुए आप लिखते हैं कि "मनुष्य उसी को कहना, जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख, हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं अपने सर्व-सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण-रहित ही क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण

करे और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महा बलवान् और गुणवान् भी क्यों न हों, तथापि उनका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहां तक हो सके, वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वदा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी चले जावें; परंतु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।" इस अप्रियाचरण को कार्य में परिणत करने के लिये महर्षि ने जो यत्न या उद्योग किया, उसकी चर्चा यथास्थान की जायगी। निसन्देह, यह अप्रियाचरण गाँधीजी के असहयोग से अधिक उग्र और भयानक है। वह 'अहिंसात्मक' भी नहीं है। लेकिन, दोनों के अभिप्राय में अधिक अंतर नहीं है।

अदालतों में जाकर आर्यसमाजी मुकदमावाजी करें,—इसके तो वे बहुत सख्त विरोधी थे। बम्बई में पहिली बार बनाये गये उपनियमों की उन्तालीसवीं धारा यह थी कि "यदि आर्यसमाज में किसी का आपस में झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि उसको आपस में समझ लें या आर्यसमाज की न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करा लें।" परोपकारिणी सभा के नाम लिखे गये वसीयतनामे की बारहवीं धारा में ऋषि ने लिखा है कि "यदि इस स्वीकार-पत्र के विषय में कोई झगड़ा उठे, तो उसको राजगृह में न ले जाना चाहिए। जहां तक हो सके, यह सभा अपने-आप उसका निर्णय करे। यदि आपस में किसी प्रकार का निर्णय न हो सके, तो फिर न्यायालय से निर्णय कराना चाहिये।" स्वामीजी की आंतरिक भावनाओं का इन से परिचय मिलता है। उपनियमों की उन्नीसवीं धारा में तो यहां तक लिखा है कि "जब तक नौकरी करने और

कराने वाला आर्यसमाजस्थ मिले, तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखे। वे दोनों परस्पर स्वामी-सेवक-भाव से यथावत् वरतें।" यह लिखने या बताने की जरूरत नहीं कि इस समय के आर्यसमाजी ऋषि की इन भावनाओं की किस प्रकार उपेक्षा कर रहे हैं? स्वामीजी की इन भावनाओं को देखते हुए उनके आचार-विचार और जीवन में आमूलचूल परिवर्तन होना नितांत जरूरी है।

साम्यवाद का विशुद्ध रूप

वर्णाश्रम-व्यवस्था आर्यसमाज का विधायक या रचनात्मक कार्य-क्रम है। मनुष्य की सौ वर्ष की आयु को आश्रमों के चार हिस्सों में बांट कर उसकी पूर्ण उन्नति एवं विकास की बहुत ही सुंदर एवं व्यावहारिक व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार वर्णों में समाज को चार विभागों में बांटकर उसकी प्रगति एवं अभ्युदय की सर्वोत्तम व्यवस्था की गई है। इसकी बहुत सुंदर और व्यावहारिक व्यवस्था आर्यसमाज के चोटी के विद्वान् पण्डित बुद्धदेवजी विद्यालङ्कार ने अपनी पुस्तक "कायाकल्प" में की है। वर्णाश्रम व्यवस्था पर की जाने वाली आपत्तियों का निराकरण करते हुए आपने यह सिद्ध किया है कि वर्णव्यवस्था ही साम्यवाद का विशुद्ध रूप है और इस समय जितने भी वाद पैदा हो गये हैं, उन सब में वर्णाश्रम का वाद ही समाज के अभ्युदय के लिये श्रेयस्कर है। पौराणिक काल में जब वैदिक युग की अन्य सब व्यवस्थायें बिगड़ गईं, तब निस्संदेह वर्णाश्रम व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त हो गई और उसका सौंदर्य नष्ट हो गया। समाज के अभ्युदय और कल्याण का साधन वह नहीं रही। बाल विवाह सरीखी जघन्य एवं घातक कुप्रथाओं ने आश्रम-

व्यवस्था की बुनियाद का नाश कर डाला और जन्ममूलक भावनाओं को प्रधानता मिलने से वर्ण-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धांत नष्ट हो गये। केवल रूढ़ि, परम्परा और रिवाज रह गया। उसकी लकीर पीटी जाती रही। उसका आदर्श सर्वथा नष्ट हो गया। आत्मरक्षा के लिये समाज के हाथ में दी गई तलवार से उसने आत्म-हत्या कर ली और अपना सर्वनाश कर लिया। यह सब भी धर्म की भावना से किया गया। स्वामी दयानन्द ने इस विकृत धार्मिक भावना के मूल में ही कुठाराघात किया। वर्णाश्रम व्यवस्था का शुद्ध रूप सब के सामने पेश किया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें समुल्लासों में इन्हीं विषयों की चर्चा की गई है। आर्य और अनार्य सिर्फ दो जातिभेद मानकर बाकी सब जातिगत एवं जन्मगत भेदभाव को ऋषि ने कपोलकल्पित, हानिकारक और अनावश्यक बताकर उसको जड़मूल से मिटा देने का आग्रह किया है। वर्ण-व्यवस्था का, ऋषि के स्वीकार किये गये वैदिक मत के अनुसार, जात-पात के साथ परोक्ष रूप में भी कोई सम्बंध नहीं है और न उसका जन्म के साथ ही कोई सम्बंध है। चौथे समुल्लास में वर्ण-व्यवस्था के बारे में सुविस्तृत विवेचन करते हुए ऋषि ने यह सिद्धांत स्थापित किया है कि "वर्ण-व्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।" इस सिद्धांत के समर्थन में वैदिक प्रमाणों, तर्कों, युक्तियों और उदाहरणों की झड़ी लगा दी गई है। ऋषि लिखते हैं कि "यदि माता-पिता और कुल पर ही यह वर्ण विभाग हो तो क्यों जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं।" ....

....“जो ऐसा न माने उसको कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से वह धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो, उसका पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे ? जिसका पिता कुकर्मी हो, उसका पुत्र भी कुकर्म करे ? जो कोई रज वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्मों के योग से नहीं, तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़, नीच अंत्यज, कृश्चीन अथवा मुसलमान् हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण् क्यों नहीं मानते ? जो कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है तो इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण, कर्म, स्वभाव वाला होवे, तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे, उसको नीच वर्ण में अवश्य गिनना चाहिये।”....“इस व्यवस्था का कार्यभार शिक्षा की समाप्ति के बाद आचार्य पर अथवा राजसभा व धर्मसभा पर डाला गया है।” इसके लाभ बताते हुये ऋषि लिखते हैं कि “जिस जिस पुरुष में जिस जिस वर्ण के गुण-कर्म हों उस उस वर्ण का उसे अधिकार देना,—ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे संतान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे, तो शूद्र हो जायेंगे। संतान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल--चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा।” इस प्रकार ऋषि ने मनुष्यमात्र के लिए जातपात के सारे भेदभाव तथा ऊंचनीच को एक ओर रखकर, उन्नति-प्रगति-विकास तथा

अभ्युदय का मार्ग खोल दिया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' की कपोलकल्पित व्यवस्थाओं के विरुद्ध विद्रोह कर उन्हें भी समाजमें ऊंचे से ऊंचा पद, प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने का पूरा अवसर दे दिया। छुवाछूत या अस्पृश्यता मिटाने का भी यही मूलमंत्र है। पूंजीवाद, धर्मवाद अथवा पंचवाद से पैदा हुई सब बुराइयों और बीमारियों का यही रामबाण औषध है। ऋषि ने समाज के शरीर में व्यापी हुई आधि-व्याधियों एवं विकारों को दूर करके उसे सर्वथा निरोग एवं स्वस्थ बनाने का सफल यत्न किया। सब सामाजिक बुराइयों को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिये ही ऋषि ने ऊंचनीच, भेदभाव और असमानता की जन्म मूलक भावना पर कुठाराघात करके गुण-कर्म-स्वभाव की प्रतिष्ठा की। जन्म एक आकस्मिक घटना है, जिस पर मनुष्य का अपना कोई बस नहीं है। लेकिन गुण कर्म स्वभाव का अर्जन् करना मनुष्य के अपने हाथ में है। लड़ाई के मैदान में कर्ण को सूत-पुत्र कह कर जब भीम ने उसकी भर्त्सना करनी चाही थी, तब उसने उसको सहसा यह जवाब दिया था कि "दैवाधीनं कुले जन्म, ममाधीनं तु पौरुषम्।" किसी खास कुल में जन्म लेना यह तो दैव के आधीन है, किन्तु पुरुषार्थ करना यह मेरे हाथ की बात है। सनातनधर्म के नाम पर पुराणमतवादियों ने दैव की व्यवस्था को अन्तिम रेखा मान कर पुरुष के लिये पुरुषार्थ के सब दरवाजे बंद कर दिये थे। ऋषि दयानन्द ने उनको सहसा खोल दिया और सबकी उन्नति, प्रगति एवं अभ्युदय के लिये समान अवसर देकर समाज की उन्नति, प्रगति एवं अभ्युदय का मार्ग भी प्रशस्त बना दिया। ऋषि दयानन्द के साम्यवाद का शुद्ध रूप यही है कि सबको उन्नति के लिये

समान अवसर मिले, सब प्रगति के मार्ग पर बिना रोक-टोक के आगे बढ़ सकें और अभ्युदय की ऊंची से ऊंची चोटी पर पहुंचने के लिये सबको समान सुविधा हो। यही आश्रम-व्यवस्था का सारभूत रहस्य है। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत मूलमन्त्र सेवा और त्याग हैं। ब्राह्मण का सम्मान करने का आदेश जहां सारे समाज को दिया गया है, वहां ब्राह्मण के लिये यह आदेश है कि वह मान को विष और अपमान को अमृत के समान समझे। उसमें अभिमान पैदा होने की इस प्रकार जड़ ही काट दी गई है। ब्राह्मण को शिक्षा-दीक्षा का, क्षत्रिय को राज्य के कारभार का और वैश्य को व्यापार-व्यवसाय एवं धन-धान्य का अधिकारी इस लिये नहीं बनाया गया कि वे उसका उपभोग करें; बल्कि उनको बहुत बड़ी जिम्मेवारी सौंप दी गई है। ब्राह्मण पर समाज, देश अथवा राष्ट्र को शिक्षित बनाने की, क्षत्रिय पर उसकी सब प्रकार की रक्षा करने की और वैश्य पर उसको सब प्रकार से समृद्ध एवं सम्पन्न बनाने की गुरुतर जिम्मेवारी डाल दी गई है। ये सब अपने कर्तव्य-कर्म का यथावत् पालन करते हुये अपनी जिम्मेवारी को पूरी तरह निभा सकें, तो कोई कारण नहीं कि समाज, देश अथवा राष्ट्र में मूर्खता, कायरता दरिद्रता रहने पावे। ब्राह्मण अपने ज्ञान से, क्षत्रिय अपने बल-पौरुष से, वैश्य अपने धन-धान्य से और शूद्र अपने शारीरिक श्रम से सेवा करने का व्रत लेता है। वस्तुतः सब के सब सेवक हैं और सेवा की भावना सब में सर्वोपरि है। तभी तो बाल्मीकी द्वारा किया गया अयोध्या का वर्णन आंखों को चुंधिया देता है और कैकेय सरीखे राजा अपने जनपद (राज्य की राजधानी) के सम्बन्ध में यह अभिमान के साथ कह सकते थे

कि "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।" आज कौन यह अभिमान कर सकता है कि उसके राज्य में न कोई चोर है, न कंजूस है, न शराबी है, न अधर्मी है और न कोई व्यभिचारी है, न व्यभिचारिणी स्त्री ही है । अपने देश, समाज एवं राष्ट्र के लिये एक बार फिर ऐसा ही अभिमान पैदा करने की उत्कट इच्छा और आकांक्षा ऋषि के हृदय में समाई हुई थी । उसी के लिये उन्होने वर्णाश्रम व्यवस्था की पुरातन व्यवस्था के पुनर्जीवित करने का यत्न किया था । खान पान आदि में भी ऋषि छुआछूत या अस्पृश्यता को नहीं मानते थे; बल्कि आर्यों के घरों में शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्रीपुरुष ही पाक आदि का काम करें,—इस पर ऋषि ने विशेष जोर दिया है । वे लिखते हैं कि "जो ब्राह्मण आदि वर्णस्थ स्त्री रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन भाड़े माजने आदि बखेड़े में पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी न हो सके ।" कितनी सुन्दर समाज रचना है ? लेकिन आज तो आर्यसमाजी भी जन्म-गत जात-पात के रगड़ों झगड़ों में उलझे पड़े हैं । उन्होने समाज-रचना के इस आदर्श को उस रूप में नहीं अपनाया है, जिसमें ऋषि ने उसका उपदेश या आदेश दिया है

कुछ राजनीतिक सिद्धान्त

"सत्यार्थप्रकाश" के छठे समुल्लास में जिन राजधर्मों की व्याख्या की गई है, उनका पूरा परिचय प्राप्त करनेके लिए पाठकों को एक बार तो उसे पूरा पढ़ ही लेना चाहिए । साधारणतया ऋषि को सिर्फ समाज-सुधारक ही माना जाता है । उनके कुछ राजनीतिक सिद्धांतो का उल्लेख उनकी राजनीति का हलका-सा आभास देने के लिए ही यहां किया जा रहा है ।

वर्तमान युग प्रजातन्त्र का युग कहा जाता है। १९१४ के महायुद्ध के बाद प्रजातन्त्र का राग विशेष रूप से सुनने में आया है। इस युद्ध में भी प्रजातन्त्र की रक्षा का नारा काफी बुलन्द है। ऋषि दयानन्द ने पश्चिम की राजनीति और अंग्रेजी भाषा से भी सर्वथा अनभिज्ञ होते हुए राजनीतिक सिद्धांतो की जो चर्चा, केवल संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर की है, वह विस्मयजनक है। ऋषि उग्र साम्राज्यवादी और कट्टर राष्ट्रवादी होते हुए भी पूर्णत: प्रजातन्त्रवादी थे। उनका यह निश्चित सिद्धांत था कि राज्य का अधिकार या सत्ता अकेले एक राजा के हाथ में नहीं होनी चाहिए। वे लिखते हैं कि "एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए।"………"किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे सिंह व मासाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश कर डालता है।" फिर वे लिखते हैं कि "विशेष सहायता के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है, तो महान् राज्य कर्म एक कैसे कर सकता है।" वस्तुत: ऋषि दयानन्द का 'राजा' वंशपरम्परागत कोई व्यक्ति नहीं है; बल्कि प्रजा द्वारा नियुक्त सभा का सभापतिमात्र है। वंश-परम्परा से राजा होने वाला भी उस सभा की अनुमति लेने के लिए बाध्य था। ऋग्वेद के 'बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये' मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं कि "राजा तथा राजपुरुषो! तुम और हम विद्वान् प्रजा को उसी स्वराज्य के लिए यत्न करना चाहिए, जो बहुत पैरों वाला है। अर्थात् जिसका शासन-कार्य अनेक लोग मिल कर करते हैं, अकेला राजा ही नहीं करता।" इसी लिये "त्रीणि राजाना विदथे

पुरूणि परिविश्वानि भूषथ: सदांसि" मंत्र की व्याख्या करते हुए ऋषि लिखते हैं कि "राजा और प्रजा के पुरुष मिल के सुख-प्राप्ति और विज्ञान-वृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बंधरूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्य सभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समाज प्रजासम्बंधी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा, धन आदि से अलंकृत करें।" ········ "उस राजधर्म का तीनों सभा मिलकर पालन करें।"

इन सभाओं और राजा के पारस्परिक सम्बंध के विषय में ऋषि "राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद् राष्ट्री विशं घातुक: " मंत्र का हवाला देते हुए लिखते हैं कि "राजा जो सभापति है, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन, प्रजा राजसभा के आधीन रहे। यदि ऐसा न करोगे, तो प्रजा से स्वतन्त्र, स्वाधीन राजवर्ग राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करेंगे। अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है। अर्थात् वह राजा प्रजा को खा जाता है।" जिस पार्लिमेण्ट की शासनपद्धत्ति को प्रजातन्त्र का सब से उत्तम और श्रेष्ठ रूप बताया जाता है, उसका मूलभूत सिद्धात यही है। राजा, प्रजा और सभा तीनों पर एक दूसरे का अंकुश रहे,—यही पार्लमेण्टरी विधान का सार, आधार या मूलमंत्र है।

राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी ऋषि दयानन्द ने काफी विस्तार के साथ विचार किया है। राज्याधिकारियो की नियुक्ति के बारे में लिखा है कि " मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें। इन

चारों अधिकारों पर सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों में प्रवीण विद्या वाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय, सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये।" प्रधान से अभिप्राय 'स्पीकर' से है। मन्त्रियों की नियुक्ति के बारे में ऋषि ने लिखा है कि "स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य एवं विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात या आठ उत्तम, धार्मिक, चतुर सचिव अर्थात् मंत्री नियुक्त करें।" स्वराज्य और स्वदेश में पैदा हुए, मंत्रियों की ही नियुक्ति करने का आदेश महत्वपूर्ण है। कार्य विभाग का वर्णन करते हुये ऋषि लिखते हैं कि "अमात्य के आधीन दण्ड अर्थात् कानून एवं व्यवस्था, राजा के आधीन राष्ट्र का कोष तथा राजकार्य, सभा के आधीन सब दूसरे कार्य और दूत के आधीन किसी से मेल या विरोध करना रहना चाहिये।" शासन में सर्वोच्च सत्ता की जिस सुन्दर व्यवस्था का उल्लेख ऋषि ने किया है, वह हिन्दुस्तान के पीछे कायम किये गये फिडरल कोर्ट अथवा अन्य राष्ट्रों में कायम की जाने वाली उच्चतम न्याय सभाओं से मिलती-जुलती व्यवस्था है। उसे ऋषि ने 'त्र्यवरा' और "दशावरा" नाम दिया है। पहिले के तीन और दूसरे के दश सभासद् होने से यह नाम दिया गया है। आप लिखते हैं कि "इस सभा में चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों।

सैनिक प्रकरण को यहाँ उद्धृत करने से यह प्रसंग बहुत बढ़ जायगा। उसमें ऋषि ने अनेक प्रकार की व्यूह-रचना, जल-थल एवं नभ में विचरने वाली सेनाओं, नाना प्रकार के उपकरणों, दुर्गों और

मोर्चाबन्दियों, लड़ाई के जहाजो तथा विमानो का वर्णन किया है और उन्हें देश व राष्ट्र के लिए जरूरी बताया है । आज कल के विनाश और संहार के साधन भी उनका क्या मुकाबला करेंगे ? लेकिन, हमारे लिए इससे अधिक महत्व उस कर्तव्य का है, जो ऋषि ने राजा और प्रजा का परस्पर बताया है । ऋषि लिखते हैं कि "जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृषित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बल आदि बन्धु सहित नष्ट हो जाते हैं ।" फिर ऋषि ने लिखा है कि "राजा प्रजा को अपने संतान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राज पुरुषों को जाने । यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है । जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें । प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष न हों और राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष व प्रजा न चले । यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप में कह दिया ।" राजा, राज्यव्यवस्था और शासन-विधान के सम्बन्ध में ऋषि के विचारों का परिचय देने के लिए इससे अधिक लिखने की जरूरत नहीं होनी चाहिये । इस पर भी उनको सिर्फ सुधारक या धर्म-प्रचारक मानना उनके साथ घोर अन्याय करना है ।

इस प्रसंग के समाप्त करने से पहिले इसी सम्बन्ध में दो-एक और बातों का उल्लेख कर देना जरूरी प्रतीत होता है । पहली तो यह है कि

प्रजा को ही राजा की नियुक्ति करने का अधिकार है। स्वामी जी प्रजा को आदेश देते हैं कि "हे मनुष्यो! जो इस मनुष्य के समुदाय में परमैश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को जीत सके, जो शत्रुओं से पराजित न हो, राजाओं में सर्वोपरि विराजमान या प्रकाशमान हो, सभापति होने के अत्यन्त योग्य, प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभावयुक्त, सत्करणीय, समीप जाने और शरण लेने योग्य सबका माननीय होवे, उसी को सभापति या राजा करो।" फिर वे कहते हैं कि "तुम इस प्रकार के पुरुष को·······सम्मति कर के सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्ण विद्या विनययुक्त, सब के मित्र, सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल शत्रुरहित करो।" प्रजा की सम्मति से ही राजा की नियुक्ति की जाने का सिद्धान्त ऋषि ने असन्दिग्ध शब्दों में व्यक्त किया है। फिर ऋषि ने राजा को भी दण्डनीय बताया है और दूसरों की अपेक्षा उसे अधिक ही दण्डनीय कहा है। जहां दण्ड से सारे शासन की व्यवस्था कायम रखने के लिये राजा को आदेश दिया गया है, वहां यह भी कहा गया है कि लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करने वाला, क्षुद्र, नीच बुद्धि राजा दण्ड से ही मारा जाता है। ऋषि ने लिखा है कि "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये। मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा और उससे न्यून को छः सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर उत्तर अर्थात् एक छोटे से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणा दण्ड से कम न होना चाहिये; क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजा-

पुरुषों को नष्ट कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी छोटे दण्ड से वश में आ जाती है; इस लिये राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिये।" ऋषि की राजनीति में यह सिद्धान्त नहीं है कि 'राजा कोई गलती कर ही नहीं सकता।' वे उसे भी एक मनुष्य मानते हैं और उसकी जिम्मेवारी को देखते हुये उसे अधिक दण्डनीय मानते हैं। इसी से उस पर इतना कठोर अंकुश रखा गया है।

ऋषि की राष्ट्र-संघ की कल्पना का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। १६१४ के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्र-संघ की स्थापना की गई थी, वह युरोपियन राष्ट्रों की घात-प्रतिघात की नीति की वजह से नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है और अब उसका सिर्फ नाम शेष रह गया है। ऋषि का राष्ट्र-संघ उनके अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य के अन्तर्गत एक आवश्यक व्यवस्था है, जिसकी योजना प्रजातन्त्रीय तत्त्वों के आधार पर की गई है। ऋषि लिखते हैं कि "राजा और राजसभा राज-कार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राज-कार्य यथावत् सिद्ध हो। जो राजा राज्य-पालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसका सुख बढ़ता है। इस लिये दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्यस्थान रखे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रख कर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे। एक एक ग्राम में एक एक प्रधान पुरुष को रखे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पांचवां पुरुष रखे अर्थात् जैसे आज कल एक ग्राम में एक पटवारी,

उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाँच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्रों से राजनीति का प्रकार लिया है। इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्य प्रति जो जो दोष उत्पन्न हों उन उन को गुप्त रूप से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्य प्रति जना देवे। बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्य प्रति निवेदन करे। वैसे सौ सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हजार ग्रामों के स्वामी को सौ सौ ग्रामों के वर्तमान को प्रतिदिन जनाया करें और बीस-बीस ग्राम के पांच अधिपति सौ सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र सहस्र दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति और लाख ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें। वे सब राजसभा, महाराज सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराज-सभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।" इस व्यवस्था को सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की व्यवस्था मानकर उस से तुलना की जा सकती है, जिसका आदर्श सम्मुख रखकर युरोपियन राष्ट्रों ने "राष्ट्र-संघ" की स्थापना की थी।

यह है महर्षि की वह राजनीति, जिससे उनके राष्ट्रवाद का अत्यंत स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐसे उग्र राष्ट्रवादी को केवल समाज-सुधारक और धर्म-प्रचारक मान लेना कहां तक उचित है,—इसका निर्णय इन पंक्तियों के पाठकों को स्वयं कर लेना चाहिये। लोकमान्य तिलक के 'गीता

रहस्य' को लेकर जैसे उनके राजनीतिक जीवन और राजनीति की उपेक्षा करने का दुःसाहस नहीं किया जा सकता, वैसे ही ऋषि दयानन्द के राष्ट्रवाद की उपेक्षा करना भी हमारी दृष्टि में एक दुस्साहस-मात्र है। लेकिन, महान् दुर्भाग्य है कि यह दुस्साहस किया गया है और वह कामयाब भी इतना अधिक हुआ है कि आज आर्यसमाज में प्रायः उनका ही बोलबाला है, जो उसे राजनीति से सर्वथा अलिप्त और कोसों दूर रखने में ही अपना और इसी से उसका भी कल्याण माने हुए हैं। इस स्वार्थमयी मोहमाया से, देखें, आर्यसमाज का कब और कैसे उद्धार होता है?

३

सत्यार्थप्रकाश

ऋषि के लिखे हुए ग्रन्थो में 'सत्यार्थप्रकाश' सब से अधिक लोकप्रिय है। इस समय वह हिन्दी में एक लाख से कहीं अधिक प्रकाशित हो चुका है। परोपकारिणी सभा के संस्करणों के अलावा उसके और भी कई छोटे-बड़े संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। गैर-आर्यसमाजी तो उसे आर्यसमाज का बाईबिल, कुरान, पुराण या ग्रंथ साहब माने हुए हैं; लेकिन, वस्तुत: वह वैदिक आदर्श की स्थापना करने वाली ऐसी जीवन-चर्या है, जिसे अपने जीवन की उन्नति चाहने वाला हर व्यक्ति सहज में अपना सकता है। महर्षि ने देशोन्नति का कोई ऐसा सवाल नहीं छोड़ा, जिस पर उसमें प्रकाश नहीं डाला या जिसकी उसमें चर्चा नहीं की गई। उनकी देशोन्नति की इकाई व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन है। वही उनके लिये देश, समाज, राष्ट्र अथवा संसार के कल्याण की पहली सीढ़ी है। इसी से ब्रह्मचर्य पर उन्होंने इतना जोर दिया और पहिले समुल्लास में ईश्वर के सौ नामों की व्याख्या करने के बाद "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" के वाक्य से दूसरे समुल्लास का प्रारम्भ किया। संतान के जीवन को माता, पिता और आचार्य कैसे बनावें,—इसकी सुंदर और सुविस्तृत व्याख्या करते हुए उस पर काफी जोर दिया। तीसरे में ब्रह्मचर्य, चौथे में गृहस्थ और पांचवें में वानप्रस्थ तथा संन्यास की चर्चा की गई है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि "प्रथमे नार्जिता विद्या,

द्वितीये नार्जितं धनम् । तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ।" जिसने सौ वर्ष की आयु के पहिले चरण के पचीस वर्षों में ब्रह्मचर्य का पालन करके यदि विद्या का अर्जन नहीं किया, दूसरे चरण में यदि धन नहीं कमाया और तीसरे चरण में यदि पुण्य का संचय नहीं किया, तो जीवन के अंतिम चरण में वह क्या करेगा ? मनुष्य-जीवन की सफलता के इस रहस्य को समझते हुए ही ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के पूर्वार्द्ध का पूर्वार्द्ध इस रहस्य के उद्घाटन में पूरा किया। आर्य दर्शनशास्त्र से गहरा मतभेद रखने वाला भी जीवन-चर्या के इस विधान से मतभेद नहीं रख सकता। छठा समुल्लास राजनीति का है, जिसकी चर्चा पिछले पृष्ठो में आ चुकी है । सातवें, आठवें और नौवें समुल्लासो में वैदिक दर्शन-शास्त्रो के तत्वो का विवेचन किया गया है । दसवें समुल्लास में आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था की गई है। उत्तरार्द्ध के चार समुल्लास खण्डनात्मक हैं । पहिले दस समुल्लासो को शान्ति, सन्तोष और सहिष्णुता से पढ़ने वाला जब खण्डनात्मक प्रकरण पढ़ना शुरू करता है, तब सहसा काप उठता हैं । महर्षि की तीक्ष्ण आलोचना देख कर वह सहसा विस्मय में पड़ जाता है। इसी की वजह से उनको 'असहिष्णु' तक कहा जाने लगा है और यह राय भी प्रगट की जाने लगी है कि 'सत्यार्थप्रकाश' में से अन्तिम चार समुल्लास निकाल देने चाहियें। ऐसे लोग ऋषि दयानन्द की भावना और उन समुल्लासों के सौन्दर्य को जानने और समझने की कोशिश नहीं करते। अपनी धारणा जो उन्होंने सम्भवतः आर्यसमाजी उपदेशकों और भजनीकों के आवेशपूर्ण खण्डन-मण्डन से बना ली है, उसी से

वे स्वामी दयानन्द और 'सत्यार्थप्रकाश' को भी देखने के आदी हो गये हैं। ऐसा करना ठीक नहीं है। किसी भी महापुरुष के प्रति उसके अनुयायियों से कोई धारणा बना लेना दोष से रहित नहीं हो सकता। जैसे आजकल के मुसलमानों से मुहम्मद या कुरानशरीफ, ईसाइयों से ईसामसीह या इंजील और सिक्खों से गुरुओं या ग्रन्थसाहब के बारे में कोई धारणा बना लेना सोलह आना सही नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही आजकल के आर्यसमाजियों से, खास कर खण्डन-मण्डन के ही काम में लगे हुए उपदेशकों या भजनीकों से, स्वामी दयानन्द या 'सत्यार्थ-प्रकाश' के बारे में कोई राय कायम कर लेना सही नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द के बारे में बड़े बड़े लोगों ने जो सम्मतियाँ कायम की या प्रगट की हैं, उसमें उनकी प्रधानतः वही धारणा प्रगट होती है, जो उन्होंने आजकल के आर्यसमाजियों को देख कर कायम कर ली है।

स्वामी दयानन्द को समझने के लिये जरूरी है कि जिज्ञासु भाव से एक बार उनके लेखों व ग्रन्थों का पूरा पारायण किया जाय और उनकी जीवनी से पूरा परिचय प्राप्त किया जाय। किसी भी ग्रन्थ की परीक्षा व समीक्षा उसके दो-चार हिस्सों को देख कर नहीं की जा सकती। लोक-मान्य तिलक ने अपने महान् ग्रन्थ 'गीतारहस्य' में गीता की समीक्षा करने और उसका अभिप्राय प्रगट करने के लिये मीमाँसकों के जिस सर्वमान्य मत को स्वीकार किया है, उसी की कसौटी पर 'सत्यार्थप्रकाश' की समीक्षा और परीक्षा करनी युक्ति-संगत होगी। वह मत यह है कि:—

"उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥"

किसी ग्रन्थ का तात्पर्य जानने के लिये इस प्रकार सात कसौटियां नियत की गई हैं। पहिली और दूसरी यह कि ग्रन्थ का प्रारम्भ और अन्त किस भावना से किया गया है। तीसरी अभ्यास अथवा पुनरुक्ति है। ग्रन्थकार ग्रन्थ में बार-बार अपने अभिप्राय को यत्र-तत्र व्यक्त करता है। चौथी अपूर्वता अर्थात् वह नवीनता है, जिससे प्रेरित होकर वह ग्रन्थ लिखता है। पाँचवी फल अर्थात् वह निष्कर्ष है, जिस पर वह अपने पाठक को पहुंचाना चाहता है। छठी अर्थवाद और सातवीं उपपत्ति है। अर्थवाद से अभिप्राय उन विषयों से है, जिनका ग्रन्थ में मुख्य विषय को स्पष्ट करने के लिये गौण रूप से वर्णन किया जाता है। यदि कोई इन गौण विषयों को ही मुख्य मान लेता है, तो वह ग्रन्थकार के अभिप्राय को ठीक ठीक न समझ कर उससे बहुत दूर चला जाता है। इस प्रकार जिज्ञासु जिस परिणाम पर पहुंचता है और जिस विषय का तारतम्य सारे ग्रन्थ में उसको दीख पड़ता है, उसको उपपत्ति कहा गया है। ऋषि ने स्वयं भी लिखा है कि "जो कोई इस ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्य के विरुद्ध मत से इसे देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि वाक्यार्थ बोध में चार कारण होते हैं; आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है।" 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय जानने के लिये इन्हीं कसौटियों को अपनाना चाहिये।

'सत्यार्थप्रकाश' नाम से ही महर्षि का अभिप्राय प्रगट है। सत्य अर्थ का प्रकाश करना उनका एकमात्र अभिप्राय या प्रयोजन है। भूमिका

में ऋषि ने लिखा है कि "मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है।" फिर वे लिखते हैं कि "अर्थात् ज सत्य है, उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करन सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय; किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानन सत्य कहाता है। जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। विद्वान आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित करदें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जानने वाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर असत्य में झुक जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुःखाना, न किसी की हानि पर तात्पर्य है; किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो; सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करे, क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" इस प्रकार सत्य की सर्वसम्मत व्याख्या करते हुए महर्षि ने अपने ग्रन्थ का प्रयोजन "सत्य मत प्रगट करते हुए मनुष्य जाति की उन्नति" करना बताया है। ग्रन्थ के आदि से अन्त तक जिस विषय का तार-

ताम्य बंधा हुआ है, वह यही विषय है। शुरू की भूमिका के साथ ग्रन्थ के अन्त का 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' मिलाकर पढ़ने से महर्षि के ग्रन्थ का उपक्रम और उपसंहार जान पड़ते हैं। भूमिका से जैसा उद्धरण ऊपर दिया गया है, वैसा ही उद्धरण 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' से भी दिया जा सकता है। मनुष्य के धर्म और सत्य की व्याख्या दोनों लेखों में एक सी है। ग्रन्थ के आद्योपान्त विलोडन से भी सहज में यह सब प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। प्रथम समुल्लास में परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या इस लिये की गई कि आर्यावर्त में प्रचलित मतमतान्तरों के आराध्य देवों की एकरूपता दिखाई जाय। पुराणों एवं दूसरे पौराणिक ग्रन्थों के अध्ययन से जाना जा सकता है कि किस प्रकार परमात्मा के एक नाम को लेकर उसी को सर्वस्व मानते हुए एक-एक मत प्रवर्तित कर दिया गया है। शैव लोगों ने शिव, वैष्णव लोगों ने विष्णु एवं दूसरे साम्प्रदायिक लोगों ने एक ही परमेश्वर के दूसरे नामों को लेकर दूसरे सम्प्रदाय चला दिये। महर्षि ने यही आशय इन शब्दों में दिया है कि "जैसा एक गुरु की सेवा में चेलाओं ने लीला की, इसी प्रकार जो एक अखण्ड सच्चिदानन्दानन्त स्वरूप परमात्मा के विष्णु रुद्रादि अनेक नाम हैं। इन नामों का अर्थ जैसा कि प्रथम समुल्लास में प्रकाश कर आये हैं, उस सत्यार्थ को न जानकर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि लोग परस्पर एक दूसरे की निन्दा करते हैं। मन्दमति तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नहीं विचारते कि ये सब विष्णु, रुद्र, शिव आदि नाम एक अद्वितीय, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, जगदीश्वर के अनेक गुण, कर्म, स्वभावयुक्त होने से उसी के वाचक हैं।" ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीनों नाम एक ही परमात्मा के हैं। सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक होने से ब्रह्मा,

रक्षक होने से विष्णु और संहारक होने से रुद्र एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने उनके एक-एक अंश की, एक-एक नाम से प्रार्थना, उपासना भक्ति शुरू कर दी। यह भेद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि वह पारस्परिक निन्दा, विरोध एवं द्वेष में परिणत हो गया। इस पारस्परिक निन्दा, विरोध व द्वेष के मूल कारण भेदभावों को दूर करने के लिये ही महर्षि ने परमात्मा के सब नामों की एकरूपता सौ नामों की व्याख्या से प्रथम समुल्लास में प्रगट की।

महर्षि के इस तात्पर्य को समझते हुए ग्यारहवां, बारहवां, तेरहवां और चौदहवां समुल्लास पढ़ा जाना चाहिए। तब उनके खण्डनात्मक लेखों का ठीक-ठीक अभिप्राय समझा जा सकता है। सम्भव है उनके सभी विचारों से कोई सहमत न हो और किसी को उनकी भाषा बहुत कठोर या तीखी जान पड़ती हो; लेकिन, उनका अभिप्राय इससे जरूर स्पष्ट हो जायगा। इन समुल्लासों की अनुभूमिका से लम्बे उद्धरण देकर इस प्रसंग को लम्बा करने की जरूरत न होते हुए भी उन्हें इसलिये दिया जा रहा है कि इस सम्बन्ध में अत्यन्त उदार और राष्ट्रीय विचार रखने वाले भी महर्षि के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझने में भूल कर जाते हैं। ग्यारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि ने लिखा है कि "इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सब को परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिये यह ग्रन्थ बनाया है। पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य मत सब को विदित हो जायगा। पश्चात् सबको अपनी अपनी समझ से सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना

सहज होगा ।" फिर वे लिखते हैं कि "इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें, तो विरोध भी न करें; क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि व विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने कराने का है । .... मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय कराने के लिये है, न कि वाद-विवाद व विरोध करने कराने के लिये । ....यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिये यह सब असाध्य नहीं है । यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सब को विरोध-जाल में फंसा रक्खा है । यदि ये लोग अपने प्रयोजन में न फंस कर सब के प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें, तो अभी ऐक्य मत हो जावे ।" इसी प्रकार बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में आपने लिखा है कि "जो जो जैनियों के मत-विषय में लिखा गया है, सो सो उनके ग्रन्थों के मत पूर्वक लिखा है । इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो जो हमने इनके मत के विषय में लिखा है, वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध व हानि के करने अर्थ । इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे, तब सब को सत्यासत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा । जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता । जब विद्वानों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता, तभी अविद्वानों को महा अन्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है । इसलिये सत्य की जय और असत्य की क्षय के अर्थ मित्रता से वाद व लेख करना हमारी मनुष्य जाति का मुख्य काम है । यदि ऐसा न

हो, तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।" तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका में भी अपने इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये ऋषि ने लिखा है कि "यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये लिखा है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।" चौदहवें समुल्लास में इस्लाम की आलोचना की गई है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता की दृष्टि से उसे काफी आपत्तिजनक माना गया है। लेकिन, ऋषि लिखते हैं कि "न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर, झूठ मूठ बुराई या भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सब को विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने वा न माने; किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक दूसरे की हानि करने से पृथक् रह, परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है।" इसी समुल्लास के अन्त में भी आपने लिखा है कि "परमात्मा सब मनुष्यो पर कृपा करें कि सब से सब प्रीति, परस्पर मेल, और एक दूसरे के सुख की उन्नति करने में प्रसन्न हों। जैसे मैं अपना या दूसरे मतमतान्तरो का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूं, इसी प्रकार यदि सब विद्वान् करें, तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सिद्ध हो।" इन उद्धरणों को पढ़ने के बाद महर्षि पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि वे असहिष्णु थे। दूसरे के धार्मिक मत अथवा विचारों को

वे सहन नहीं कर सकते थे अथवा किसी भी प्रकार उनका खण्डन करना उनका एकमात्र कार्य था । 'सत्यार्थप्रकाश' के अन्तिम प्रकरण 'स्वमन्ताव्यामन्तव्य' में भी ऋषि ने लिखा है कि "मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है । मेरा कोई नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है; किन्तु जो सत्य है, उसको मानना मनवाना और जो जो असत्य है, उसको छोड़ना-छुड़वाना मुझको अभीष्ट है । यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त में से प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो जो आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता और न करना चाहता हूं; क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है ।" यह है ऋषि के 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय, जिसका तारतम्य सारे ग्रन्थ में आदि से अन्त तक बंधा हुआ है । मीमांसकों की कसौटी पर इस प्रकार उसकी परख करने पर ऋषि दयानन्द का अभिप्राय और 'सत्यार्थ-प्रकाश' लिखने का उनका प्रयोजन असन्दिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है । इसको जानने और समझने की दृष्टि से ही 'सत्यार्थप्रकाश' का अध्ययन करना पाठकों के लिए कुछ उपयोगी हो सकता है और वे उसके ठीक अभिप्राय तक पहुंच सकते हैं ।

राष्ट्रीय कसौटी

ऋषि दयानन्द से पहिले की देश की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था के विस्तार में हम नहीं जाना चाहते । उस ओर केवल एक संकेत कर देना पर्याप्त होना चाहिये । व्यक्तियों के धर्म-कर्म और समाज की सामाजिक

व्यवस्था पर पण्डितों, पुरोहितों और पंचों ने एकाधिपत्य किया हुआ था। राजा लोग उनकी मार्फत प्रजा पर अपना एकाधिपत्य कायम किये हुये थे। ऐसा जान पड़ता है, जैसे कि पण्डितों, पुराहितों और पंचों के साथ मिलकर राज्याधिकारियों ने प्रजा के विरुद्ध कोई षडयन्त्र रचा हो। यह षड्यन्त्र अन्त में सभी को ले डूबा। न केवल हमारा देश इस दुरवस्था में फँसा हुआ था, बल्कि सारा ही संसार इसका शिकार हो रहा था। युरोप में पोप की, टर्की में खलीफा की और अन्य देशों में वहां के धर्म गुरुओं की तूती बोलती थी। राजा से अधिक शक्ति इन लोगों के हाथों में थी। राजदण्ड में तो अधिक से अधिक मनुष्य के एक ही जन्म या जीवन को लेने की क्षमता थी; लेकिन, भगवान् के अवतार तो इतने सर्वशक्तिसम्पन्न थे कि वे मनुष्य के अगले पिछले सभी जन्मों को बिगाड़कर उनको कई पीढ़ियो तक नरक में डाले रखने की क्षमता रखते थे। जन्म की आकस्मिक घटना को इतना महत्व दे दिया गया था कि उसके सामने मनुष्य की योग्यता, क्षमता और परिश्रम आदि को बिल्कुल तुच्छ माना जाता था। फिर इसको बनाने और बिगाड़ने की करामात भी उन्होंने अपने हाथों में पैदा कर ली। मनुष्य मनुष्य के बीच जन्मगत जातपात और छूतछात की ही नहीं; परन्तु धर्म-कर्म की ऐसी दीवारें खड़ी कर दी गई कि उन्होंने इस समय की राष्ट्रीय दीवारों से भी कहीं अधिक भयानक स्थिति पैदा कर दी। मनुष्य मनुष्य का दुश्मन बन बैठा। धर्म के नाम पर खून की नदियां बहाई जाने लगीं। ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, विरोध और विनाश की सृष्टि धर्म की नींव पर की गई। अभ्युदय और निश्रेयस् का साधक धर्म सर्वनाश, विनाश और चहुमुखी पतन का कारण बना लिया गया। व्यक्ति

और समाज की जिन दुर्भावनाओं और दुर्गुणों को दबाने के लिये धर्म की व्यवस्था की गई थी, उन सब को धर्म के नाम पर उत्तेजन दिया जाने लगा। ईश्वर के जितने भी नाम मिल सके, उतने ही देवी-देवताओं की कल्पना कर न मालूम कितने मत व सम्प्रदाय इस देश में चला दिये गये। 'सत्यार्थप्रकाश' के उत्तरार्ध की अनुभूमिका में ऋषि ने इनकी संख्या एक हजार से अधिक बताई है। इस प्रकार देश में फैले हुए हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, विरोध एवं स्पर्धा और असहिष्णुता से देश की एकता इतनी छिन्न-भिन्न हो गई कि राष्ट्रीयता का पनपना सम्भव नहीं रहा। जैनियों के बारे में यह व्यवस्था दी गई कि हाथी के पैर तले कुचले जाने का संकट पैदा होने पर भी आत्म-रक्षा तक के लिये जैन-मन्दिर में नहीं जाना चाहिये। जैनियों ने यह उपदेश देना शुरू किया कि गंगा आदि तीर्थों और काशी आदि क्षेत्रों के सेवन से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और गिरनार, पालीताना तथा आबू आदि तीर्थ क्षेत्र मुक्ति देने वाले हैं। शिव, विष्णु आदि की मूर्तियों की पूजा करनी बहुत बुरी है अर्थात् नरक का साधन है। पुराणों की समीक्षा करते हुए ऋषि ने लिखा है कि किस प्रकार अनेक मतमतान्तरों के कारण परस्पर विरोध फैला। वे लिखते हैं कि "शिव पुराण में शैवों ने शिव को परमेश्वर मान के विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, गणेश और सूर्य आदि को उनका दास ठहराया। वैष्णवों ने विष्णु पुराण आदि में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु के दास। देवी भागवत में देवी को परमेश्वरी और शिव-विष्णु आदि को उसके किंकर बनाया। गणेश खण्ड में गणेश को ईश्वर और शेष सब को दास बनाया। शिव पुराण वाले शिव से, विष्णु पुराण वाले विष्णु से, देवी पुराण वाले

देवी से, गणेश खण्ड वाले गणेश से, सूर्य पुराण वाले सूर्य से और वायु पुराण वाले वायु से सृष्टि की उत्पत्ति और उसी से प्रलय मानते हैं। अब, सोचिये, इन सब में परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप या सद्भाव होगा कि परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई-झगड़ा।" यह है वह भावना और कल्पना, जिससे प्रेरित होकर ऋषि दयानन्द को खण्डन के कठोर एवं अप्रिय कार्य करने के लिये मजबूर होना पड़ा। इस भेदभाव के रहते राष्ट्रीय एकता कदापि संभव न थी। उसके अनुकूल भूमि तय्यार करने के लिये इस भेदभाव की जड़ में ही ऋषि ने कुठाराघात किया। ऋषि के अपने एक वाक्य में उनका आशय कहना हो, तो वह यह है कि "यदि ऐसे पाखण्ड न चलते, तो आर्यावर्त देश की दुर्दशा क्यों होती?"

खण्डनात्मक प्रकरणों में मूर्तिपूजा का खण्डन साधारणतया लोगों को बहुत अखरता है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिये इस्लाम के खण्डन को कुछ कठोर बताकर जहां कुछ लोग आर्यसमाज के चौदहवें समुल्लास को 'सत्यार्थप्रकाश' में से निकाल देने तक की सलाह दे देते हैं, वहां ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो हिन्दुओं तथा आर्यों को एक बनाने के लिये और उनके दिल को न दुःखाने के लिये यहां तक कहने में संकोच नहीं करते कि आर्यसमाज को श्राद्ध व मूर्तिपूजा आदि के खण्डन पर अब अधिक जोर नहीं देना चाहिये। लेकिन, इस प्रकार सोचने व कहने वाले दोनों ही तरह के लोग ऋषि के अभिप्राय को समझने की कोशिश नहीं करते। मूर्तिपूजा के खण्डन में ऋषि ने सोलह कारण दिये हैं। उनमें अधिकांश कारण राष्ट्रीय किंवा सार्वजनिक हैं। वे लिखते हैं कि "नाना प्रकार की विरुद्ध स्वरूप-नाम-चरित्र-युक्त मूर्तियों के पुजारियों का ऐक्यमत

नष्ट होके विरुद्ध मत में चलकर आपस में फूट बढ़ा के देश का नाश करते हैं। ....मूर्ति के भरोसे शत्रु का पराजय और अपना विजय मान कर बैठे रहते हैं। उनका पराजय होकर राज्य-स्वातन्त्र्य और उनका सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन, भटियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं। "द्वारिकाजी के रणछोड़जी" के सम्बन्ध में ऋषि ने कितने सन्तप्त हृदय से लिखा है ? वे लिखते हैं कि "सम्वत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियां अंग्रेजो ने उजाड़ दी थी, तब मूर्ति कहा गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने कितनी वीरता दिखाई और लड़े, शत्रुओं को मारा; परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता, तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय, उसके शरणागत क्यों न पीटे जांय।" इसी प्रकार सोमनाथ मन्दिर की लूट का उल्लेख करते हुए तो ऋषि का हृदय मानो रो ही दिया है। वे कितनी वेदना के साथ लिखते हैं कि "क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए ? देखो! जितनी मूर्तिया हैं, उनके स्थान में शूरवीरों की पूजा करते, तो भी कितनी रक्षा होती ? पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की; परन्तु मूर्ति एक भी उन शत्रुओं के सिर पर उड़के न लगी। जो एक शूरवीर पुरुष की मूर्ति के सदृश सेवा करते, तो वह अपने सेवकों को यथाशक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।" फिर वे लिखते हैं कि मूर्तियों और मन्दिरों आदि में "करोड़ों रुपए व्यय करके लोग दरिद्र होते हैं और उसमें प्रमाद होता है। स्त्री-पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार, लड़ाई, बखेड़ा और रोग आदि उत्पन्न

होते हैं। उसी को धर्म, अर्थ, काम और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ-रहित होकर मनुष्य-जन्म व्यर्थ गमाते हैं। भ्रान्त होकर मन्दिर-मन्दिर, देश-देशान्तर में घूमते-घूमते दुःख पाते, धर्म-संसार और परमार्थ का काम नष्ट करते, चोर आदि से पीड़ित होते, ठगों से ठगाते रहते हैं। दुष्ट पुजारियों को धन देते हैं। वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्य-मांसाहार, लड़ाई, बखेड़ों में व्यय करते हैं।" यह है वह भावना, जिससे ऋषि दयानन्द ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया है।

इसी प्रकार ब्राह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की समीक्षा के प्रकरण में भी ऋषि की उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना का अत्यन्त स्पष्ट परिचय मिलता है। उन्होंने उनमें सबसे पहिला और बड़ा दोष यह बताया है कि "इन लोगों में स्वदेशभक्ति बहुत न्यून है। ईसाइयों के आचरण बहुत से लिये हैं।"........"अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजो की बड़ाई करनी तो दूर रही, उसके स्थान में भरपेट निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजों की प्रशंसा भरपेट करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते; प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।"....."वेदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक नहीं रहते। ब्राह्मसमाज के उद्देश्य के पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्य लिखे हैं; किसी ऋषि-महर्षि का नाम नहीं लिखा।" फिर ऋषि लिखते हैं कि "भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुये हैं और इसी देश का अन्न-जल खाया-पिया, अब भी खाते पीते हैं, तब अपने माता-पिता-पितामह आदि के मार्ग को छोड़ कर दूसरे

विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंगलिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर और बृद्धिकारक काम क्यों कर हो सकता है ?" कितना प्रबल स्वाभिमान और कितना उत्कट स्वदेशाभिमान है ? इसी से प्रेरित होकर ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के वे खण्डनात्मक प्रकरण लिखे हैं, जो साधारण दृष्टि से विचार करने वालों को कठोर एवं अप्रिय जान पड़ते हैं और जिनकी वजह से वे ऋषि दयानन्द को 'असहिष्णु' तक कहने में संकोच नहीं करते। लेकिन, मुमुक्षु के लिये ऋषि दयानन्द का अभिप्राय समझना कठिन नहीं है और उनकी उस उत्कट, प्रबल एवं उज्ज्वल राष्ट्रीय भावना तथा कल्पना को जानना भी कठिन नहीं है, जो 'सत्यार्थप्रकाश' और उसके खण्डनात्मक प्रकरणों में भी यत्र-तत्र-सर्वत्र ओतप्रोत है।

सच तो यह है कि ऋषि दयानन्द ने उस नींव को तय्यार किया है, जिस पर राष्ट्रीय मन्दिर की स्थापना की जा रही है। लूथर ने यूरोप में ईसाई पादरियों के, साम्यवादियों ने जारशाही के हस्तक बने हुये रूस के पादरियों के, मुस्तफा कमाल पाशा ने खलीफा की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने वाले तुर्की के मुल्ला-मौलवियों के विरुद्ध जो भीषण सामाजिक एवं धार्मिक क्राँति करके अपने अपने देशों में राष्ट्रवाद के लिये अनुकूल भूमि तय्यार करने का जो महान् कार्य किया है, वही ऋषि दयानन्द ने इस देश में अपने इस कठोर एवं अप्रिय कार्य द्वारा किया है। जब मत-मतान्तर के अंध पक्षपात, सामाजिक रूढ़ियों के मायाजाल, धार्मिक मूढ़

विश्वासों के जंजाल और जन्मगत जातपात एवं छूतछात के भेदभाव से ऊपर उठ कर हम सब एक दिल और एक दिमाग से राष्ट्रदेवी की आराधना करने में लगेंगे, तब सबसे पहिले इस युग में राष्ट्रीयता का सन्देश लाने और सुनाने वाले राष्ट्र-देवदूत ऋषि के चरणों में निस्सन्देह सहसा हम सभी के हृदय और मस्तक झुक जायेंगे।

'सत्यार्थ प्रकाश' को सहसा हर हिटलर के 'मीन कैम्फ' —'मेरा संघर्ष' से उपमा दी जा सकती है। लेकिन, उनमें उतना ही अन्तर है, जितना कि दोनों ग्रन्थो के नामो में है। एक तो देश, जाति, समाज एवं राष्ट्र के निर्माण की सात्विक भावना से लिखा गया हैं और दूसरा संघर्ष विनाश और महायुद्ध की आसुरी भावना से। लेकिन, जहां तक राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवाद और देशप्रेम एवं देशभक्ति का सम्बन्ध है, दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि कहीं आर्यसमाज राष्ट्रवाद से विमुख न हो गया होता, तो इसमें सन्देह नहीं कि 'सत्यार्थ प्रकाश' भी इस देश में अद्भुत चमत्कार दिखाता। लेकिन, भावनायें अजर और अमर हैं। वे कभी कभी कालान्तर में भी अपना दिव्य चमत्कार दिखा जाती हैं। इस लिये निराश होने का कोई कारण नहीं है। ऋषि दयानन्द का मिशन जाकर पूरा होगा और उनकी भावनायें अपना प्रभाव एवं चमत्कार दिखाये बिना न रहेंगी। तब लोग आश्चर्यसे देखेंगे कि जिस महापुरुष को उन्होंने सिर्फ धर्म प्रचारक और समाज सुधारक मान लिया था, वह कितना बड़ा देशभक्त और कैसा महान् राष्ट्रवादी था।

४
आर्यसमाज

"आर्यसमाज के साथ मिल कर उसके उद्देश्य के अनुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा; क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति तन, मन, धन से सब जने मिल कर प्रीति से करें। इस लिये जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।" —महर्षि ने ये शब्द 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास में प्रार्थनासमाजियों और ब्राह्मसमाजियो में स्वदेशभक्ति, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमानकी कमी बताने के बाद लिखे हैं। जो लोग आर्यसमाज को सार्वभौम बता कर और उसके छठे नियम के 'संसार के उपकार करने' के शब्दो को लेकर आर्यसमाज को अपने देश की एकदेशीय राजनीति से दूर रखना चाहते हैं, उनको ये शब्द जरा ध्यान से पढ़ने चाहियें और इनसे प्रगट होने वाली राष्ट्रीय भावना को हृदयंगम करने का यत्न करना चाहिये। ऋषि ने 'आर्य' शब्द का प्रयोग 'आर्यसमाज' के नाम में जिस भावना या अभिप्राय से किया है, उसकी स्फूर्ति उनके हृदय में निस्सन्देह अपने देश के पुरातन नाम 'आर्यावर्त' से हुई है। आज जैसे 'इन्डिया' नाम से उसके स्वराज्य, स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता के लिये यत्न करने वाली संस्था का नाम "आल इन्डियन नेशनल कॉंग्रेस" रख दिया गया है, ठीक वैसे

ही आर्यावर्त्त के निवासी आर्य लोगों की चहुमुखी और सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये कायम की गई संस्था का नामकरण-संस्कार ऋषि ने 'आर्यसमाज' किया। आर्यसमाज के छठे नियम का अभिप्राय इसका विरोधी नहीं; बल्कि पोषक है। उस नियम का पहिला भाग यह है कि 'संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।' इस उद्देश्य की पूर्ति का उपाय ऋषि ने उसी नियम के दूसरे भाग में बताया। वह यह कि "अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" शारीरिक एवं आत्मिक उन्नति से अभिप्राय व्यक्तिगत उन्नति से और सामाजिक से अभिप्राय समष्टिगत उन्नति से है। इसी को जब हम सारे संसार पर घटाते हैं, तब हमारा देश उसकी ईकाई या व्यक्ति कहा जायगा और संसार की उन्नति का प्रारम्भ हमें अपने देश की उन्नति से करना होगा। अपने को कंगाल बनाये रखने वाला दूसरे को क्या दे सकता है? जो स्वयं मूर्ख है, वह दूसरों को क्या सिखा सकता है? जो स्वयं अवनति के गड्ढे में औंधे मुंह गिरा पड़ा है, वह दूसरों को उन्नति के शिखर पर ले जाकर खड़ा नहीं कर सकता। हम स्वयं गुलामी, पराधीनता, पददलित अवस्था और दीनता-हीनता में जब तक पड़े हुये हैं, तब तक दूसरों को क्या उन्नत बना सकते हैं? ऋषि दयानन्द की आँखों से यह सचाई छिपी हुई नहीं थी। वे इसके मर्म को भली प्रकार जानते और समझते थे। इसी लिये उनका यह दावा था कि "जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण हो सकता है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।"

महर्षि के इस दावे की परीक्षा यदि उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को सामने रख कर की जा सके, तो आर्यसमाज की स्थापना का

महत्व असन्दिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है। सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई के बाद आर्यावर्त की बची-खुची स्वतन्त्रता का भी अन्त होकर अंग्रेजों की हकूमत का यहां सूत्रपात हो चुका था। ईसाई राष्ट्र अपने शासन को पराधीन देश में सुदृढ़ बनाने के लिये जिन उपायों को काम में लाते हैं, उनका श्रीगणेश इस देश में भी किया जा चुका था। लार्ड क्लाइव ने इस देश में अंग्रेजी हकूमत को कायम किया और लार्ड मैकाले ने उसकी जड़ों को पाताल तक पहुंचाने का सफल उपक्रम बाँधा। लार्ड क्लाइव द्वारा किये गये यत्नों की चर्चा हम सिर्फ इस लिये करना चाहते हैं कि इससे जहां अंग्रेज-शासकों की दुर्नीति पर पूरा प्रकाश पड़ता है, वहाँ उसको विफल बनाने के लिये किये गये ऋषि दयानन्द के महान् प्रयत्न भी प्रकाश में आ जाते हैं। सन् १८३४-३५ के लगभग यहाँ के अंग्रेज अधिकारियों के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि यहा वे किस शिक्षा-पद्धति को अपनावें या किसका श्रीगणेश करें। लार्ड मैकाले ने इस सवाल को हल करते हुए एक लेख लिखा था, जिसमें उसने किसी कूट नीति से काम न लेते हुये खुले ही शब्दों में अपना दिल खोल कर रख दिया था। उसने लिखा था कि "*We must do our best to form a class, who may be interpreters between us and the millions whome we govern;a class of persons Indian in blood and colour but in English in taste in opinions, words and intellect.*" अर्थात् "हमें इस देश में एक ऐसी जमात पैदा करने में अपने सब यत्न लगा देने चाहियें, जो हमारे और उन करोड़ों के बीच मध्यस्थ का काम कर सकें, जिन पर हमें

शासन करना है। यह जमात भले ही हाड़-मांस और रुधिर में हिन्दुस्तानी रहे; पर आचार-विचार, रहन-सहन और दिल-दिमाग से अंग्रेज बन जाय।" अपने इस यत्न में अंग्रेज राजनीतिज्ञों को प्राप्त हुई सफलता का परिचय भी लार्ड मैकाले के ही शब्दों से मिल जाता है। १८३६ में अपने पिता को उसने एक पत्र लिखा था। जिसमें उसने बहुत अभिमान के साथ यह लिखा था कि "*No Hindu, who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion, some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure Diests and same embrace Christianity. It is m y firm belief that if our plans of education are follwed up, there will not be a single idolater among the respactable classes in Bengal thirty years hence.*" अर्थात् "जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के लिये उसे मानते हैं। अधिकतर सिर्फ एकेश्वरवादी बन जाते हैं या ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा पक्का और निश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना पूरी तरह काम में लाई गई, तो अब से तीस वर्ष में बंगाल के अच्छे घरानों में एक भी मूर्तिपूजक अथवा हिन्दू न रहेगा।" जिस काम की शुरुआत बंगाल में इस अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का श्रीगणेश करके लार्ड मैकाले ने की थी, उसी का सूत्रपात ईसाई पादरियों ने मद्रास में किया था और उन्होंने भी उसके लिये अंग्रेजी

शिक्षा पद्धति का ही सहारा लिया था। ईसाय्यत का प्रचार करना दोनों का उद्देश्य था, क्योंकि दोनों यह भली प्रकार जानते थे कि बिना इसके भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें पाताल तक न पहुंच सकेंगी। मद्रास में आने वाले पादरियों के पहिले गिरोह की योजना तो यह थी कि सिर्फ बीस ही वर्षों में सारे देश को ईसाय्यत के रंग में रंग दिया जाय। किसी देश के लोगों के स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान को सर्वथा मिटा कर वहां अपनी हकूमत को चिरस्थायी बनाने के लिये न सिर्फ अंग्रेजों ने बल्कि सभी युरोपियन राष्ट्रों ने ईसाय्यत के प्रचार को अपना मुख्य साधन बनाया है। ईसामसीह के सार्वभौम भ्रातृभाव और अहिंसा के ऊंचे आदर्शों को इन लोगों ने उठा कर ताक पर धर दिया है। उसके बदले अपने सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना को इन्होंने अपना आदर्श बना लिया है। लार्ड मैकाले के जिस लेख में से ऊपर कुछ पंक्तियां उद्धृत की गई हैं, उससे हमारे इस कथन का पूरी तरह समर्थन हो जाता है।

लार्ड मैकाले का वह लेख आर्यावर्त या हिन्दुस्तान के प्रति अंग्रेज राजनीतिज्ञों की बदली हुई मनोवृत्ति का द्योतक है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ आये हुए अंग्रेज इस देश के वैभव को देखकर दंग रह गये। यहां की समृद्धि ने उनको चकाचौंध में डाल दिया। यहां के कला-कौशल ने उनको मोह लिया। यहां के गांवों में कायम हुआ हुआ 'स्वराज्य' उनके लिये एक अद्भुत और विलक्षण चीज थी। इस सब की सराहना उनमें से अनेकों ने मुक्तकण्ठ से की है। श्री० रमेशचन्द्र दत्त का लिखा हुआ उन दिनों का इतिहास ऐसे अंग्रेज-लेखकों के लेखों से भरा पड़ा है। बंगाल से पंजाब तक और मद्रास से सूरत तक जहां भी कहीं अंग्रेज गये, वहां

की उन्नत, समृद्ध और वैभवशाली अवस्था देखकर वे चकित रह गये। लार्ड मैकाले सरीखे अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि कहीं हमारे मुख से अपने बड़प्पन की कहानी सुनकर हिन्दुस्तानियों के हृदयों में स्वाभिमान तथा स्वदेशाभिमान की भावना न जाग उठे और इस देश में हमारे साम्राज्य की नींव कच्ची न रह जाय। बस, यह अनुभव करते ही उन्होंने एकाएक रुख पलट लिया। हिन्दुस्तान को जंगलियों, अशिक्षितों और असभ्य लोगों का देश बताकर ये लोग उसे सभ्य, शिक्षित और उन्नत बनाने के ठेकेदार बन बैठे। लार्ड मैकाले ने अपने लेख में इस मनोवृत्ति का खासा प्रदर्शन किया है। उसने यहां के साहित्य, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, धर्म और सभ्यता आदि का खूब मजाक उड़ाया है। उसने लिखा है कि यहां का सारा साहित्य, जिसमें वह वैदिक और अरबी दोनों साहित्यों को शामिल करता है, अंग्रेजी साहित्य के पुस्तकालय की अलमारी के एक खाने में रखे गये साहित्य का भी मुकाबला नहीं कर सकता। उसने पौराणिक गाथाओं के अलंकारों को ठीकतरह न समझते हुए इतिहास और भूगोल का मजाक उड़ाया है। सनातन धर्म में जिन विविध प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गई है, उनका उल्लेख करके उसने धर्म की विडम्बना की है। हिन्दुस्तानियों को जंगली बता कर वेदों की ऋचाओं को जंगलियों के गीत कहने में भी संकोच नहीं किया। सारांश यह है कि जिस किसी भी चीज को लेकर हिन्दुस्तानियों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना पैदा होकर स्वराज्य की आकांक्षा पैदा होने की सम्भावना हो सकती थी, उस सभी का उपहास करते हुए उसे इतना तुच्छ ठहरा दिया गया कि उस पर से स्वयं हिन्दुतानियों की ही श्रद्धा उठ गई,

विश्वास मिट गया और वे उसे अंग्रेजो से भी अधिक अर्थहीन मानने लग गये।

हिन्दुस्तानियों को इस प्रकार नैतिक और राजनैतिक दोनो ही दृष्टियों से सर्वथा दीन, हीन, पराधीन, पतित और असहाय बना देने वाली पश्चिम से उठी हुई ईसाय्यत की लहर की पृष्ठ-भूमि को सामने रख कर ही आर्य-समाज और उसके संस्थापक के गौरव एवं महत्व को समझा जा सकता है। यदि कहीं ऋषि दयानन्द ने भारतीय साहित्य, विज्ञान, धर्म, इतिहास, भूगोल, सभ्यता आदि की सर्वश्रेष्ठ विभूति को देशवासियों के सम्मुख पेश न किया होता, तो आज हमारा देश सही मानो में इंग्लैण्ड का एक उप-निवेश बन चुका होता। उपनिवेश वह प्रदेश है, जिसे नये सिरे से आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाया जाता है। युरोपियन राष्ट्रों के अन्य उपनिवेश इसी प्रकार उन द्वारा आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाये गये हैं। इसलिये वे उनका आभार और उपकार मानकर उनकी आधीनता में रह सकते हैं। हिन्दुस्तान को भी इसी प्रकार नये सिरे से आबाद, शिक्षित और सभ्य बनाने के लिये लार्ड मैकाले और उसके साथियों द्वारा रचे गये षड्-यन्त्र का ऋषि दयानन्द ने भाण्डाफोड़ कर दिया। ऋषि दयानन्द सिवा संस्कृत, हिन्दी और गुजराती के कोई और भाषा नहीं जानते थे। अंग्रेजी से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसी लिये उनकी सारी भावनाओं, कल्पनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों का एकमात्र स्रोत सिर्फ वह वैदिक भारतीय साहित्य था, जिसे लार्ड मैकाले एण्ड ईसाई कम्पनी के लोग इस देश के लोगों की आंखों से सर्वथा ओझल कर देना चाहते थे। ऋषि दयानन्द को अपने देश पर होने वाले एक प्रबल आक्रमण का मुकाबला करना

था। इसी से उनके सारे ही साधन सोलह आना भारतीय रंग में रंगे हुए थे। जब इस देश के लोगों को जंगली, असभ्य और अशिक्षित बताया जा रहा था, तब ऋषि ने उनके हृदयों में सर्वश्रेष्ठ होने की भावना पैदा करने के निमित्त से उनके लिये 'आर्य' शब्द का प्रयोग कर उनके देश के लिये भी उसके पुरातन नाम 'आर्यावर्त' शब्द का प्रयोग किया और उनको मनु का प्रमाण देकर यह बताया कि "इसी देश में जन्म लेने वाले हमारे पूर्वजों ने ही सारे संसार को आबाद, शिक्षित एवं सभ्य बनाकर उनको आचार-विचार और चरित्र की शिक्षा-दीक्षा दी थी।" वेद को संसार में सब से पुराना साहित्य बताकर सब सत्य विद्याओं का उसे ग्रन्थ बताया। आर्यावर्त के लिये अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य का दावा पेश करते हुए उसको पूरा करने के लिये उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। यह है वस्तुस्थिति, जिसे सामने रख कर ऋषि दयानन्द के महान् मिशन और आर्यसमाज के महान् कार्य को जानने और समझने का यत्न किया जाना चाहिये।

अपने देश पर आने वाले इस महान् संकट की कल्पना ऋषि दयानंद से पहिले भी की जा चुकी थी। राजा राममोहन राय ने उसके विरोध में आवाज भी उठाई थी। लेकिन, वे उस संकट का सामना न कर सके। विलायत जाकर सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनवाने के लिये किये गये यत्न ने उनको पथ-भ्रष्ट कर दिया। अंग्रेजी शिक्षा से वे कुछ अधिक प्रभावित हो गये थे। इसी लिये ब्राह्मसमाज के लिये ऋषि दयानन्द को यह कहने के लिये मजबूर होना पड़ गया कि उनमें देशभक्ति बहुत कम है। पश्चिम में प्रार्थनासमाज के रूप में उठी हुई लहर भी पूर्व की ब्राह्मसमाज की

जहर के समान ईसाय्यत के भीषण आक्रमण का मुकाबला न कर सकी। आर्यसमाज के समान इनके सामने न तो भारतीयता का कोई ऊंचा आदर्श था और न कोई ऊँची कल्पना या भावना ही थी। वैदिक भारतीय साहित्य का भी उनको इतना ज्ञान न था। फिर वे कैसे ईसाय्यत का सामना करते?

एक बात और है। विरोधी जब आक्रमण करता है, तब वह आक्रांता की कमजोरियों से ही लाभ उठाता है। ईसाय्यत ने हमारी कमजोरियों से लाभ उठाने में कोई कोर-कसर बाकी न रखी। हमारे धार्मिक कुसंस्कार, सामाजिक रूढ़ियें, जातिगत बन्धन और परम्परागत भेदभाव आदि वे कमजोरियां थीं, जिनसे ईसाय्यत को साधन बना कर हमारे देश पर आक्रमण करने वाले विदेशी लाभ उठाते थे। ऋषि दयानन्द ने इस आक्रमण को विफल बनाने का जब बीड़ा उठाया, तब उनके लिये यह जरूरी हो गया कि वे चुन-चुन कर इन कमजोरियों को दूर कर डालते। उनके खण्डनात्मक कार्य का यही हेतु और यही सौन्दर्य था। इसे समझने का हम यत्न ही नहीं करते। परस्पर के जिस विवाद, बहस और शास्त्रार्थ आदि ने वितण्डा का रूप धारण कर लिया है, उसके पीछे हम इस सौन्दर्य को आंखों से ओझल कर जाते हैं। आज गांधी जी के पुण्य प्रताप से हिन्दू समाज को हरिजनों के साथ मनुष्योचित व्यवहार करने और उन्हें मन्दिरों में देव-दर्शन तक के अधिकार देने का राजनीतिक महत्व भी मालूम हो गया है। इसी से वह आर्यसमाज के दलितोद्धार के कार्य को भी अब सहानुभूति की दृष्टि से देखने लग गया है। आर्यसमाज के ऐसे ही अन्य कार्यों का महत्व भी धीरे-धीरे प्रगट होता जा रहा है और वह समय दूर नहीं है, जब ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के खण्डनात्मक कार्य की

राष्ट्रीयता को भी स्वीकार किया जायगा और यह माना जायगा कि बिना इसके राष्ट्र-निर्माण का महान् कार्य होना सम्भव न था। यह बात दूसरी है कि आर्यसमाज के इस समय के उपदेशकों और भजनीकों का प्रचार राष्ट्रीयता से एकदम रहित होने से सिर्फ वितण्डावाद को पैदा कर रहा है और वह राष्ट्र-निर्माण में सहायक न होकर विघातक साबित हो रहा है। यह ऋषि दयानन्द का नहीं, उनके अनुयायियों का दोष है। किस महा-पुरुष के अनुयायी उसके बताये हुए मार्ग से विरुद्ध जाकर उसकी निन्दा का कारण नहीं बन जाते? ऐसे साधारण लोगों की तरह ही आर्यसमाजियों का भी ऋषि दयानन्द के अधकचरे अनुयायी बन जाना उन्हें शोभा नहीं दे सकता और न इस प्रकार वे ऋषि के महान् मिशन को ही पूरा कर सकते हैं?

५

जीवन की झांकी

भारत में अंग्रेजी राज को कायम करने में जैसा प्रमुख भाग लार्ड क्लाइव और लार्ड मैकाले का है, वैसा ही देशवासियों के हृदयों में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की उज्ज्वल भावना को जगा कर उनमें स्वतन्त्रता एवं स्वाधीनता के लिये उत्कण्ठा पैदा करने में ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी का है। अंग्रेजी राज द्वारा किये गये इन दो कूटनीतिज्ञों के मुकाबले में आर्यसमाज ने इन दो महापुरुषों को जन्म दिया है। महात्मा या महापुरुष का लक्षण नीतिकारों ने मन-वचन-कर्म में एक होना बताया है। ऊंचे आदर्शों, विशाल भावनाओं और महान् कल्पनाओं को यदि जीवन में पूरा नहीं उतारा जा सकता और उनके लिये कुछ भी त्याग, तपस्या एवं कष्ट सहन नहीं किया जा सकता, तो वे सर्वथा निरर्थक हैं और दूसरों को अपनी ओर खींचने की उनकी आकर्षण शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। बाल्यावस्था में ही ऋषि दयानन्द में जो अद्‌भुत परिवर्तन हुआ था, उसी का यह परिणाम था कि उन्होंने दूसरों के सामने जो भी कुछ पेश किया, उसकी उन्होंने अपने जीवन में पूरी तरह समीक्षा और परीक्षा की। अध्ययन से उनको जो कुछ भी मिला, उसकी उन्होंने जीवन की कसौटी पर परख की और उस परख में जो चीज पूरी उतरी, उसको उन्होंने जनता के सामने पेश किया। इसी लिये उनके मन, वचन और कर्म में अपूर्व और अलौकिक सामंजस्य पाया

जाता है। उनकी देशभक्ति और राष्ट्रीयता का पीछे जो बखान किया गया है, उनका जीवन उसके सोलह आना अनुरूप था।

अमृतवर्षी स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने ऋषि की राष्ट्रीयता के सरोवर में गोता लगा कर कुछ उज्ज्वल रत्न प्राप्त किये हैं और उनको उन्हों ने "श्रीमद्दयानन्दप्रकाश" नाम से लिखी गई ऋषि की जीवनी की माला में बहुत सुन्दर और आकर्षक ढंग से पिरोया है। वे उसमें एक जगह लिखते हैं कि "वे देश और जाति की उन्नति के विषयों पर भी ओजस्विनी और तेजस्विनी भाषा में प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुन कर श्रोताओं में ऊष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ आता था, हृदय उछलने लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खौलने लग जाता था; किन्तु किसी मनुष्य या जाति के लिये मन में घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र-सुधार के विचार सिद्धान्त-रूप में प्रकाशित होते थे। वे दार्शनिक भाव लिये होते थे और सब पर घट जाते थे। महाराज ने स्वराज्य और स्वतन्त्र शासन के सार मर्म के कुछ एक सूत्र और अति स्पष्ट सूत्र "सत्यार्थप्रकाश" में उस समय लिखे थे, जब यहां जातीय महासभा "कांग्रेस" का जातकर्म भी न हुआ था और शासन-सुधारवादियों ने स्वराज्य का अभी स्वप्न भी नहीं देखा था। महाराज के समय भारतीयों की राष्ट्र-नीति अभी नवजात बालिका थी, दुधमुंही बच्ची थी, पालने में पड़ी अंगूठा चूस रही थी। नीति-निपुण मुसलमान सज्जन उसे अछूत समझ उससे बड़े अन्तर पर रहते थे। थोड़े से आर्य लोग थे, जो कभी कभी दो एक बार उसे व्याख्यान-भवनों के हिण्डोले में

डाल कर अपने धुआंदार भाषणों के दो-चार हिलोड़े दे छोड़ा करते थे। उनके भाई-बन्धु भी बहुतेरे ऐसे थे, जो मीठी मीठी लोरियो और कोमल थपकियो से उसे सुलाये रखने में ही तत्पर थे। राष्ट्र-जागृति और जातीय जीवन के ऐसे बाल-काल में भी स्वामी जी का बलाढ्य शब्दों में, ओज और ऊष्मापूर्ण भाषा में, स्वायत्त शासन का समर्थन करना, उसे परम सुखदायक बताना इस बात का उज्ज्वल और ज्वलन्त उदाहरण है कि उनके राष्ट्रनीतिसम्बन्धी विचार पूर्ण प्रगति को पाये हुये थे; परम और चरम लक्ष्य को परिलक्षित कर चुके थे। उनके विशाल हृदय में भारत की प्रजा का हित कूट कूट कर भरा हुआ था। उनके अन्तःकरण में, मस्तक में, अस्थि में, मज्जा में, एक एक रक्तबिन्दु और नाड़ी-नस में भारत के कल्याण की निष्कलंक कामना उत्कृष्ट उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी। समय आयगा, जब भारत की भावी सन्तति, अपने जातीय मन्दिरों में स्वायत्त-शासन की देवी का पूजन करने से पूर्व, उसे पहिले-पहिल आह्वान करने वाले देवस्वरूप दयानन्द का प्रथम अर्चन किया करेगी।"

इसी प्रकार एक दूसरे प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि "अमृत की खोज में जंगल, पहाड़ और नदियों के स्रोतों को खोज डालना और अपनी आयु को घोर तपस्या में बिताना उनके जीवन को श्रीराम के बनवास से भी बढ़कर बना देता है। आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मान कर हमेशा लोकसेवा के मैदान में डटे रहना कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण महाराज को आंखो के सामने ला खड़ा करता है। भगिनी और चाचा की मृत्यु से प्रभावित होकर विवाह की तय्यारियों व समारोह में से भाग निकलना और अपने जीवन को ब्रह्म-समाधि में लगा

कर मृत्युंजय पद को पाने के लिये अमृत की खोज करना भगवान् बुद्ध की बोधी वृत्त के नीचे की समाधि को सहसा याद दिलाता है। दीन, दुःखियों, अपाहजों और अनाथों के लिये आंसू बहाते हुए महर्षि क्राइस्ट जान पड़ते हैं। शास्त्रार्थ की वेदी पर खड़े हुए और धुंआधार भाषण करते हुए वे आचार्य शंकर दीख पड़ते हैं। एकेश्वरवाद और वैदिक सार्वभौम भ्रातृ-भाव का उपदेश करते हुए मुहम्मद साहब प्रतीत होते हैं। भक्ति और ध्यान में मग्न उनमें सन्तवर रामदास, कबीर, दादू, चैतन्य, तुकाराम आदि सभी भक्तों की प्रतीति होने लगती है। देश की दुर्दशा से सताये हुए जब वे राजनीति का उपदेश करते हुए स्वराज्य, साम्राज्य व चक्रवर्ती राज्य की चर्चा करते हैं और अपने देशी नरेशों व रईसों के पतन व अवनति में सन्तप्त हुए वे उनके सुधार की चेष्टा करते हैं, तब आर्यवर्त के संरक्षक, आर्य-संस्कृति के उद्दीपक और आर्यत्व के पालक वे प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह, गुरु गोविन्दसिंह और छत्रपति शिवाजी महाराज मालूम होते हैं।"

महर्षि के बहुमुखी और व्यापक जीवन के जिस स्वरूप का चित्र ऊपर की अन्तिम पंक्तियों में खींचा गया है, उसी की एक झांकी हमें यहां दिखानी है। आर्यसमाजी उपदेशकों, भजनीकों और प्रचारकों ने ऋषि की बहुमुखी प्रवृत्तियों पर कुछ ऐसा परदा डाला है कि सर्वसाधारण के सामने उनका स्वरूप केवल एक धर्म-प्रचारक और समाज-सुधारक का रह गया है। बड़े-बड़े लोग भी उनको सिर्फ धर्म-संशोधक के रूप में देखते हैं। उनके शास्त्रार्थों और धर्म-प्रचार को उनके महान् जीवन का सार मान कर उसे ही जनता के सामने पेश किया जाता है। यह सर्वथा भुला दिया

जाता है कि उनके जीवन की महान् आकांक्षा, महान् उद्देश्य, महान् आदर्श और महान् स्वप्न तो अपने देश को स्वतन्त्र देखकर सारे संसार में उसी के अखण्ड चक्रवर्ती सार्वभौम स्वराज्य की स्थापना हुई देखना था। एक बार उनसे एक कलैक्टर ने उनका भाषण सुनने के बाद बिलकुल ठीक ही कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जांय, तो इसका यह परिणाम निकलेगा कि हमें अपना बंधना-बोरिया बांधना पड़ेगा।"

देश की दुर्दशा और अपने देसी नरेशों तथा रईसों के पतन व अवनति को देखकर उनके हृदय में जो सन्ताप पैदा होता था, उसको यदि अनुभव किया जा सके, तो सहसा ऋषि के महान् जीवन के राष्ट्रीय स्वरूप की एक स्पष्ट झांकी देखी जा सकती है। बड़े सन्ताप के साथ ऋषि ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में यह लिखा है कि "अन्य देशों में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहना, किन्तु आर्यवर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रांत हो रहा है।" अपने इसी सन्ताप को मिटाने के लिये ऋषि ने राजस्थान की खाक छानते हुए एक देसी नरेश के जीवन को सुधारने के पीछे अपने जीवन का उत्सर्ग राजस्थान में ही किया। जैसे स्वामी रामदास ने छत्रपति शिवाजी की खोज में अपने को लगा दिया था या जैसे पंजाब से निराश हो दक्षिण की यात्रा करते हुए बंदा वैरागी गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज को मिल गया था, ठीक वैसे ही ऋषि ने इसी आशा से अपने देश के, खासकर राजस्थान के सभी नरेशों के दरवाजे खटखटाये थे; लेकिन, उनको महाराणा प्रताप की विभूति के कहीं भी दर्शन न हुए। वीरभूमि मेवाड़ से

उनको बहुत आशायें थीं। मारवाड़ से भी वे काफी आशायें बांधे हुए थे। अपना मुख्य कार्यक्षेत्र इसी से उन्होंने राजस्थान को बनाया था। मेवाड़-उदयपुर में बैठकर उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखा। देसी नरेशों का नैतिक पतन देखकर वे इसी लिये ज्वालामुखी की तरह सन्तप्त या उत्तप्त हो जाते थे कि देश को स्वतन्त्र देखने की उनकी सारी आशाओं पर सहसा तुषारपात हो जाता था। जोधपुर महाराज को जब उन्होंने नन्ही जान वेश्या की पालकी में हाथ लगाते देखा, तो वहा ही सब की उपस्थिति में उनको कहा कि "राजन्! राजा लोग सिंह समान समझे जाते थे। स्थान-स्थान' पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश हैं। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। आर्य-जाति की कुल-मर्यादा के यह सर्वथा विपरीत है। केसरी की कंदरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्करी के आगमन का क्या काम? इस कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म नष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पाप-सोपान पर पैर रखते ही पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन आप ही आप होता चला जाता है। इस दुर्व्यसन को तिलाजली दे देनी चाहिये।" इसी प्रसंग में महाराज प्रतापसिंह को आषाढ़ बदी तृतीया १९४० को ऋषि ने एक पत्र लिखा था। वह पत्र अत्यन्त भावपूर्ण है। हम उसको ज्यों का त्यों नीचे देते हैं :—

"श्री मान्यवर शूर महाराजा श्री प्रतापसिंह जी,—

आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टिगोचर भी करा दीजियेगा। मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर

वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उनके रक्षण तथा कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। उनका सुधार या बिगाड़ भी आप तीन महाशयां पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर की रोग से रक्षा करने और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं। यह बात कितनी शोचनीय है।

मैं चाहता हूं कि आप अपनी दिनचर्या मुझ से सुधार लें; जिससे मारवाड़ का तो क्या, अपने आर्यावर्त देशभर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जांय। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत थोड़े जन्मते हैं और जन्म कर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

इसके हुये बिना देश का सुधार कभी नहीं होगा। आप जैसे पुरुष जितना अधिक जियें, उतनी ही अधिक देशोन्नति होती है,—इस पर आप लोगां को ध्यान अवश्य देना चाहिये। आगे जैसे आप लोगों की इच्छा हो।"

पत्र की भाषा और भाव इतने स्पष्ट हैं कि उन पर कुछ भी लिखने की जरूरत नहीं है। देसी राज्यों में देसी नरेशों को सुधारने के प्रयत्नों पर भी इस पत्र से काफी प्रकाश पड़ता है। जोधपुर-नरेश के सुधार में वे केवल मारवाड़ का ही नहीं, बल्कि सारे ही आर्यावर्त के कल्याण का स्वप्न देखा करते थे और यही था वह स्वप्न, किसकी पूर्ति के लिये उन्होने मारवाड़ के समान मेवाड़, जयपुर, शाहपुर, भरतपुर, रीवां, ग्वालियर, धौलपुर,करौली और इन्दौर आदि सभी राज्यों में दौरा कर वहां के नरेशों तक अपना सन्देश पहुँचाने का यत्न किया। काशी-शास्त्रार्थ तो हमें याद रहता है, किन्तु हम यह नहीं जानना चाहते कि उन्होने किस आन्तरिक भावना से प्रेरित होकर बार बार काशी-नरेश का द्वार खटखटाया। १८८७ के दिल्ली

दरबार के समय इन्दौर के महाराज तथा कुछ अन्य नरेशों ने मिलकर यह यत्न किया कि सब देसी नरेशों को इकट्ठा करके उनके सामने स्वामी जी का क्षात्र-धर्म पर उपदेश कराया जाय।

बम्बई में अपने एक भाषण में ऋषि ने सिंह गर्जना करते हुये एक बार कहा था कि "इस देश के राजाओं की अवनति और दुःख का कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओं की ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देश की भी यह दीन और हीन दशा न होती। वास्तव में इस देश की अवनति और पतन का कारण ऐसे ही राजे और रईस हैं, जो दिन-रात प्रजा के धन को नाच-तमाशों और व्यर्थ के कामों में उड़ाते रहते हैं। वे अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक स्मृति को खो कर किसी काम के नहीं रहते। इनके प्रमाद और अनभिज्ञता से राज्य के प्रबन्ध में बड़ी अव्यवस्था हो जाती है। फिर नये नये बखेड़े पैदा होते रहते हैं।" वे प्रायः कहा करते थे कि "हिन्दू राज्यों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वे कभी के नष्ट-भ्रष्ट हो गये होते, परन्तु जितने या जो कुछ भी बचे हुये हैं, वे उनकी रानियों के पतिव्रत धर्म से बचे हुये हैं। यदि राजाओं के कर्म पर निर्भर होता, तो कभी का बेड़ा डूब गया होता।" देसी नरेशों को आधार मान कर अपने देश का राजनीतिक काया-कल्प होने की आशा कर उनके सुधार, उद्धार और उन्नति के लिये सक्रिय प्रयत्न करने वाले पहिले महापुरुष ऋषि दयानन्द ही थे। उन्होंने अपने जीवन के कार्य में जितना महत्व देसी राज्यों को दिया, उतना आज भी देश के सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में उनको प्राप्त नहीं हुआ है। अजमेर उनके कार्य का केन्द्र था। परोपकारिणी सभा की स्थापना उन्होंने उदयपुर

में ही की थी) और उदयपुर-नरेश को उसका सभापति बनाकर अन्य कई नरेशों को भी उसका सभासद् बनाया (उदयपुर में हिन्दी और देवनागरी को जो महत्व प्राप्त हुआ, वह ऋषि की प्रेरणा का परिणाम था) वे देसी नरेशों की सन्तानों को शास्त्र और शस्त्र दोनों की पूर्ण शिक्षा देने के प्रबल पक्षपाती थे।

अपने इस महान् मिशन से ऋषि को विचलित करने के लिये देसी नरेशों की ओर से काफी यत्न किया गया, उनको बड़े से बड़े प्रलोभन दिये गये और धमकियां भी दी गईं। लेकिन, वे अपने ध्येय पर स्थिर और अविचलित बने रहे। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह जी और काश्मीर के पं० मनफूलसिंह साहेब द्वारा दिये गये प्रलोभन की चर्चा हम पीछे कर आये हैं।

अपने देश को स्वतन्त्र और स्वाधीन देखना ही उनके लिए ईश्वरीय आदेश था, जिसके पालन करने में उन्होंने किसी भी भय, प्रलोभन या संकट की परवा नहीं की और अन्त में उसी के लिए अपने जीवन तक का उत्सर्ग कर दिया। बड़े दुःख के साथ यह मानना होगा कि ऋषि के विश्वास पर देसी नरेश पूरे नहीं उतरे, उनकी आशाओं को उन्होंने पूरा नहीं किया और उनके भरोसे अपने देश की स्वतन्त्रता का जो स्वप्न वे देखा करते थे, वह सत्य सिद्ध नहीं हुआ। विदेशियों की कूटनीतिक चालों के मायाजाल में वे पूरी तरह उलझ गये और अपने देश के विरुद्ध वे उनके हाथ का खिलौना बन गये। वे अपने देश की आजादी के मार्ग में आज कांटा बने हुए हैं और अंग्रेजों के लिये अपने राष्ट्र के विरुद्ध वे श्री शैलवेंकर के कथन के अनुसार "पांचवां क़ालम" बने हुये हैं। लेकिन,

इससे ऋषि के जीवन और उनके जीवन के महान् राजनीतिक मिशन का गौरव कुछ भी कम नहीं होता। आज देश का ध्यान बरबस देसी राज्यों की ओर जा रहा है। देश को एक और अखण्ड मानकर राजनीतिक आन्दोलन का संचालन किया जा रहा है। देसी राज्यों के प्रति ऋषि की जो भावना थी, वह जोर पकड़ती जा रही है और उनमें जीवन, जागृति एवं प्रगति पैदा करने के विशेष यत्न किये जा रहे हैं।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुये दो-एक और प्रसंगों का उल्लेख कर देना भी उचित और आवश्यक प्रतीत होता है। १८८७ के दिल्ली दरबार के अवसर पर आपने उस समय के बड़े बड़े नेताओं का सम्मेलन करने का आयोजन किया था। उनके सामने आपने यह विचार पेश किया कि परस्पर के भेद भाव, द्वेष और कुटिलता को दूर करना चाहिए और धार्मिक विरोध को दूर कर के उपद्रव व अशान्ति की जड़ ही काट डालनी चाहिए,जिससे सब एक लक्ष होकर और मिलकर देश के सुधार और कल्याण में लग सकें। सम्मेलन में अन्तिम निर्णय कुछ भी न हुआ। सम्मेलन में निमन्त्रित किये गये कुछ महानुभावों के नाम ये थे:—मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी, बाबू नवीनचन्द्र राय, बाबू केशवचन्द्र सेन, मुन्शी इन्द्रमणि, सर सैय्यद अहमद खां और बाबू हरिश्चन्द्र।

उदयपुर का एक और प्रसंग है। एक दिन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने ऋषि से पूछा कि "भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा? यहां जातीय उन्नति कब होगी?" ऋषि ने उत्तर दिया कि "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारतका पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्र स्थान ऐक्य है। जहां भाषा,

भाव और भावना में एकता आ जाय, वहां सागर में नदियों की भांति, सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लगते हैं। मैं चाहता हूं कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा करें। फिर भारतभर में आप ही आप सुधार हो जायगा।" फिर पंड्या जी ने कहा कि "जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता का सम्पादन करना है, तो आप मतमतान्तरों का कठोर खण्डन क्यों करते हैं? इससे तो उलटा वैर, विरोध और वैमनस्य बढ़ता है।" ऋषि ने उनका समाधान करते हुये कहा कि "एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नहीं किया जा सकता। दूसरे भारतवासी लम्बी तानकर ऐसी गहरी नींद सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आंख तक खोलने को तय्यार नहीं होते। सुधार का ये नाम तक नहीं लेते। कुरीतियों और कुनीतियों के खण्डन रूप कड़े कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से यदि ये जाग जावें, तो ईश्वरका कोटि-कोटि धन्यवाद करूंगा।" ऋषिने आगे कहा कि "धर्म गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिन्ह बदल जाते हैं। जाति के आचार-विचार बिगड़ जाते हैं। रहन-सहन के ढंगों में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय इस देश पर उपस्थित है। यदि इसे संभाला न गया, तो आर्य जाति परिवर्तन के चंचल-चक्र में पड़कर अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र स्वरूप को बिगाड़ डालेगी। इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों मुसलमान बन गये। अब प्रति दिन ईसाई बनते जा रहे हैं। ऐसे समय में तो कड़े हाथों से उनकी चोटियां पकड़ कर जगाना होगा। मैं इस कटु कर्तव्य का पालन कुछ अपने स्वार्थ से तो नहीं कर रहा।

मुझे तो इसके लिये अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट, पत्थर और विष स्थान स्थान पर मिलता है। लेकिन, बन्धुवात्सल्य की भावना मुझे विपत्तियों के जटिल और विकट जाल में समाज-सुधार के लिये प्रोत्साहित कर रही है।" पण्ड्या जी ने हाथ जोड़कर कहा कि "यदि दो-चार धर्माचार्य भी आपके विचार के हो जांय, तो थोड़े समय में ही आर्य जाति का बेड़ा पार हो सकता है।" लेकिन, दुर्भाग्य है आर्य जाति का कि उसका बेड़ापार करने के लिये प्रगट हुये महापुरुष को विष का प्याला पिला कर उसने उसका ही जीवन हर लिया।

ईसाई जिन कुरीतियों और कुनीतियों से लाभ उठा रहे थे, उनका खण्डन करने में जिस कठोरता से ऋषि ने काम लिया, उसकी वजह से साधारण लोग उनको 'असहिष्णु' कहने लग जाते हैं। सत्यार्थप्रकाश के खण्डनात्मक प्रकरण में ऋषि ने एक जगह लिखा है कि "यह लेख इस लिये लिखा है कि जो जो भलाई है वही भलाई और जो जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे, न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने या न माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।" उनके सारे लेखों और सारे जीवन में यही भावना ओतप्रोत है। इसके रहते उनको असहिष्णु नहीं कहा जा सकता। बुराई के प्रति असहिष्णु होना दूषण नहीं, भूषण है। आज जैसे गान्धीजी के लिये हिन्दुओं की छूतछात और हरिजनों के प्रति नीच व्यवहार असह्य हो गया है, वैसे ही ऋषि के लिये अपने देश एवं समाज की सभी धार्मिक, सामाजिक एवं परम्परागत बुराइयाँ असह्य थीं। वे उनको एक क्षण के लिये भी सहन नहीं कर सकते थे। उनको दूर

करने के लिये उन्होने यही आदेश और उपदेश दिया कि "यही सज्जनों की रीति है कि अपने व पराये के दोषों को दोष और गुणो को गुण जान कर गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग करें।" दूसरी जगह 'सत्यार्थ-प्रकाश' में फिर उन्होंने लिखा है कि "प्रथम अपने दोष देख और निकालने के पश्चात् दूसरे के दोषों पर दृष्टि देके निकालें।" अन्यत्र वे लिखते हैं कि "जब तक वादी प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाय, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।" ...."सब सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कार्यों में अर्थात् जो निज के काम हैं, उनमें स्वतन्त्र रहें।" आर्यसमाज का दसवां नियम सहिष्णुता की व्यापक भावना का ही द्योतक है। वह यह है कि "सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।" समाज, जाति, देश और राष्ट्र के काम में मनुष्य को उनके आधीन रख कर निज कार्यों में पूर्ण स्वाधीनता देना ही सहिष्णुता है। यही ऋषि के जीवन, मिशन, आन्दोलन और संगठन का आधार है। दूसरों के प्रति अपनी भावना को ऋषि ने इन शब्दों में प्रगट किया है कि "जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाईबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उनमें गुणो का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा समस्त जाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूं, वैसे सबको करना चाहिए।" सच तो यह है कि वे अपने अध्ययन, अनुभव और अनुशीलन के बाद इस परिणाम पर पहुँचे थे कि "विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने का कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्या-

वस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषण आदि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।" इन कुकर्मों का सहन कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं था। यही असहिष्णुता उनके जीवन की उत्कृष्टता है। इन कुकर्मों का त्याग, इन बुराइयों का बिना किसी शर्त के प्रतिवाद और असत्य का बिना किसी समझौते के तिरस्कार ही उनके जीवन की असहिष्णुता है, जो सभी महापुरुषों में पाई जाती है।

ऋषि के जीवन की एक विशेषता और है। वह यह कि इतने दृढ़ क्रान्तिकारी समाज-सुधारक होते हुये भी उन्होंने सरकारी कानून बनवा कर अथवा किसी और रूप में सरकार की सहायता लेकर किसी भी सुधार को कार्य में परिणत करने का कभी विचार तक नहीं किया। राजा राम-मोहन राय ने जैसे सती प्रथा को बंद कराने और श्री ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर ने विधवा विवाह को जारी कराने के लिये सरकार या सरकारी कानून का सहारा लिया, वैसा ऋषि दयानन्द ने नहीं किया। अपने जीवन पर संकट आने पर भी किसी को पुलिस के आधीन करने या कराने की इच्छा तक प्रगट नहीं की; बल्कि यही कहा कि मैं दुनिया को बंधन में डालने नहीं, मुक्त कराने के लिये आया हूं।

यह है ऋषि का वह जीवन, जिसने दीपक की तरह जल कर, इस देश में चहुमुखी जागृति एवं प्रगति का प्रकाश फैलाया है। राष्ट्रवाद उस दीपक की अन्तर्ज्योति है। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक ऋषि की उत्कृष्ट राष्ट्रीय भावना एवं उज्ज्वल देशप्रेम को हृदयंगम करने के उद्देश्य से उनके महान् जीवन को जानने का यत्न करें।

६

सरकार की वक्र दृष्टि

जहां जहां आर्यसमाज का जोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिख-सम्प्रदाय की याद दिलाता है, जो सोलहवीं शताब्दि के शुरू में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर सिर्फ धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आन्दोलन था और पचास ही वर्षों में हरगोविन्द की आधीनता में शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।"—ये शब्द वैलेण्टाइल शिरोल ने "अनरैस्ट इन इण्डिया" नाम की अपनी उस पुस्तक में लिखे हैं, जिसमें उसने आर्यसमाज के प्रति सरकार की वक्र दृष्टि का पूरा पूरा चित्र खींच दिया है। सन् १९०७ में रावलपिण्डी में हुये दंगों में आर्यसमाजियो के निरपराध छूट जाने पर भी उसने लिखा था कि "पंजाब और संयुक्त प्रांत के राजद्रोही आन्दोलनो में आर्यों ने प्रमुख भाग लिया है। रावलपिण्डी के सन् १९०७ के दंगो में आर्य प्रमुख नेता थे और पिछले दो वर्षों के उस भयानक आन्दोलन के, जिसके परिणामस्वरूप वास्तव में उपद्रव हुये, लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह दोनों नेता आर्यसमाजी हैं।" वह समय था, जब कि सरकार और सरकारी अधिकारी और सरकार के समर्थक लोग 'आर्यसमाजी' उन्हें कहा करते थे, जो अंग्रेज सरकार के विरुद्ध असन्तोष पैदा कर अपने देश में अपना राज्य स्थापित हुआ देखना चाहते थे। कोमागातामारू के सुप्रसिद्ध नेता बाबा गुरुदत्तसिंह जी को भी आर्यसमाजी कह कर सिख-

समाज से बहिष्कृत कराने की कोशिशें की गई। सरकारी प्रकोप और उसकी बक्र दृष्टि से अपनी जान बचाने के लिये सिख और सनातनी अपनी बिरादरी के ऐसे लोगों के आर्यसमाजी होने का फतवा देने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो देश में पैदा होने वाली राजनीतिक जागृति और असन्तोष के पाप का सारा ठीकरा आर्यसमाज के सिर फोड़ा करते थे। 'आर्यसमाज' को राजद्रोही संस्था और 'सत्यार्थ-प्रकाश' को राजद्रोही ग्रन्थ बताने वाले ऐसे लोगों को 'गोकरुणानिधि' सरीखे विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से लिखे गये सर्वथा निर्दोष पुस्तक में भी राजद्रोह की गन्ध आने लगी। ऐसे लोगों के कुचक्र और षड्यन्त्र के फलस्वरूप 'सत्यार्थप्रकाश' और आर्यसमाज के विरुद्ध कई बार मुकद्दमे भी दायर किये गये। १६०२ में इलाहाबाद में, १६०५ में कराची में और १६०६ में पटियाला में ऐसे ही मुकद्दमे चलाये गये थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी (तब के महात्मा मुंशीरामजी) के शब्दों में कहा जाय, तो आर्यसमाजी 'आउट ला' ठहरा दिये गये थे। राजदण्ड की सारी व्यवस्था का प्रयोग या उपयोग तब सिर्फ आर्यसमाज या आर्यसमाजियो के ही विरुद्ध किया जाता था। उन पर निशाना साधने वालो को पूरा अभयदान मिला हुआ था।

ऐसा होना अकारण ही न था। ऋषि दयानन्द की आन्तरिक भावना के वह सर्वथा अनुकूल था। आर्यसमाज को राजद्रोही बताना उसके लिये गौरवास्पद था। १६०८ के लगभग सम्वत् १६६५ में स्वामी श्रद्धानन्दजी ने लिखा था कि "क्या हवा का रुख यह नहीं बता रहा कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है। फिर यदि

सरकारी कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठे दोषारोपण करें, तो आश्चर्य ही क्या है ?" वस्तुतः आर्यसमाज देश में उठती हुई उस प्रबल शक्ति और प्रचण्ड जागृति का प्रतीक था, जो भारत में कायम हुए अंग्रेजी राज के लिये एक भीषण खतरा थी। जिस ईसाइयत और अंग्रेजी शिक्षा को अंग्रेजी राज की जड़ें पाताल तक पहुंचाने का प्रधान साधन बनाया गया था, उसके विरुद्ध सक्रिय विद्रोह आर्यसमाज ने ही किया था। महान् सिकन्दर की सेनाओं को भारत-विजय की अपनी महत्वाकांक्षाओं को सतलुज में तिलांजलि देकर उसके उस पार से वापिस लौट जाना पड़ा था, तो अंग्रेज सरकार की ईसाइयों की सेनाओं को आर्यसमाज के साथ टकरा कर उसके इस पार से वापिस लौटने को बाध्य होना पड़ा और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कि उनकी महत्वाकांक्षाओं की लुटिया सतलुज के गहरे पेट में डूब जायगी। आर्यसमाज चीन की दीवार साबित हुआ। मद्रास और बंगाल की तरह उत्तर भारत में वे इतनी आसानी से प्रवेश नहीं पा सके। इस लिये उन्होने १८८३ में ही आर्यसमाज के विरुद्ध विष उगलना शुरू कर दिया। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उनकी हरकतों के बारे में उसी समय यह लिखा था कि "आर्यसमाज के पोलिटिकल जमाअत होने का सारा सन्देह ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश कर्मचारियों के दिलों में डाला था। गरीब हिन्दुओं को वाग्युद्ध में सदा ही पछाड़ने के अभ्यासी पादरियों को जब आर्यसमाज में पले बालकों तक से पटकनी पर पटकनी मिलने लगी, तब वे ओछी करतूतों पर उतर आये और उन्होंने सरकारी अधिकारियों को विश्वास दिलाना आरम्भ किया कि आर्यसमाज से क्रिश्चियन मत को तो कम भय है, अधिक भय गवर्मेण्ट को है।"

आर्यसमाज में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के विकास को और भी अधिक सन्देह से देखा गया। आर्यसमाज के प्रति किये जाने वाले सारे सन्देह का केन्द्र कभी गुरुकुल को बना दिया गया था। आर्यसमाज की शक्ति को कुण्ठित बनाने के लिये उसके प्रति भी भेदभाव की उस नीति से अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने काम लिया, जिसकी आधार-शिला पर इस देश में अंग्रेजी राज की नींव रखी गई है। उसी के फलस्वरूप आर्यसमाज में १८६२ से १८६६ तक भीषण गृह-कलह बनी रही और उसने यादव-कुल की तरह आर्यसमाज का सर्वनाश तो नहीं किया, किन्तु उसकी महान शक्ति को अत्यन्त क्षीण जरूर बना दिया। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उस खोई हुई शक्ति का फिर से संग्रह करने के लिये ही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात किया था। इस लिये उसके प्रति सरकार का सशंक होना और तिरछी नजर रखना बिलकुल स्वाभाविक था। स्वर्गीय रैम्जे मैकडानैल्ड, जो वर्षों तक इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री भी रहे, १६१२ में गुरुकुल-कांगड़ी पधारे थे। स्वदेश लौटने पर इंग्लैण्ड के "डेली क्रानिकल" में उन्होंने गुरुकुल के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने उसके प्रति सरकारी अधिकारियों के सन्देह की चर्चा करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप का चित्र अङ्कित किया था। उस लम्बे लेख में से एक लम्बे उद्धरण को यहां देने के लोभ को हम नहीं दबा सकते। उन्होंने लिखा था कि "भारत के राजद्रोह के सम्बन्ध में जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने 'गुरुकुल' का नाम अवश्य सुना होगा, जहां कि आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा पाते हैं। आर्यों की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यन्त उत्कृष्ट मूर्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था आर्यसमाज के

सम्बन्ध में जितने भी सन्देह किये जाते हैं, वे सब इस गुरुकुल पर लाद दिये गये हैं। इसी लिये सरकार पर इसकी तिरछी नजर है, पुलिस आफीसरों ने इसके सम्बन्ध में गुप्त रिपोर्टें की हैं और अधिकांश एंग्लो इण्डियन लोगों ने इसकी निन्दा की है।" गुरुकुल के स्वरूप का सुन्दर चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं कि "सरकारी लोगों के लिये गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं हैं। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिये पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी वहां काम में नहीं लाई जातीं, सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहां से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता और विद्यार्थियों को विद्यालय से अपनी ही उपाधियां दी जाती हैं। सचमुच, यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुए किसी भी सरकारी अधिकारी के मुँह से पहली बात यही निकलती है कि यह स्पष्ट ही राजद्रोह है। परन्तु गुरुकुल के विषय में यह अन्तिम राय नहीं हो सकती। सन् १८३५ के अपने प्रसिद्ध लेख में भारत की शिक्षा के बारे में लार्ड मैकाले के सम्मति प्रगट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र में यह पहिला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्राय: सभी भारतवासी असन्तुष्ट हैं, किन्तु जहां तक मुझे मालूम है गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा किसी और ने उस असन्तोष को कार्य में परिणत करते हुये शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया है।" स्वामी श्रद्धानन्दजी के गुरुकुल की स्थापना के महान् कार्य को देखते हुए ही हमने यह लिखा है कि भारत में अंग्रेजी राज ने यदि लार्ड क्लाइव और लार्ड मैकाले को जन्म दिया है, तो उनके मुकाबले में आर्यसमाज ने ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द को जन्म दिया। लार्ड मैकाले

ने अंग्रेजी शिक्षा द्वारा जो मायाजाल इस देश में फैलाया था, उसको छिन्न-भिन्न करने का सफल प्रयत्न स्वामी श्रद्धानन्दजी ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश कर के किया। यही गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की राष्ट्रीयता है, जिसे अनेक आर्यसमाजी नेता तक आज भी समझने में असमर्थ हैं।

स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने पत्र "लिबरेटर" में गुप्त सरकारी कागजों से कुछ उद्धरण देकर गुरुकुल के प्रति सरकार की मनोवृत्ति को प्रकट किया था। उस लेख में आर्यसमाज में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के विकास होने पर विशेष भय प्रगट किया गया था। उसमें लिखा गया था कि "आर्यसमाज के संगठन में अभी जो 'गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' का महत्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिए बहुत बड़े संकट का स्रोत है। इस प्रान्त में गुरुकुल की उत्पत्ति के इतिहास का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा; किन्तु आर्यसमाज की धार्मिक संस्थाके रूप में आलोचना करते हुए भी उसकी ओर निर्देश करना जरूरी है। इस प्रणाली में चाहे कितने ही दोष क्यों न हों; किन्तु भक्तिभाव और बलि-दान की उच्च भावना से प्रेरित हुए जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सबसे सुगम और उपयुक्त साधन है। यहां आठ वर्ष की ही आयु में बालकों को माता पिता के प्रभाव से बिलकुल दूर रख कर त्याग, तपस्या और भक्तिभाव के वायु-मण्डल में उनके जीवन को कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार ढाला जाता है। इससे उनके रग-रग में श्रद्धा और आत्मोत्सर्ग की भावना घर कर जाती है। यदि इस प्रकार की शिक्षा का क्रम आर्यसमाज के सुयोग्य और उत्साही नेताओं की देख-रेख में बालकों की आयु में निरन्तर सत्रह वर्ष तक चलता रहा, जो कि मनुष्य

के जीवन में सब से अधिक प्रभावशाली समय है, तो इस पद्धति से जो युवक तय्यार होंगे, वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक साबित होंगे। उनमें वह शक्ति होगी, जो इस समय के आर्यसमाजी उपदेशकों में नहीं है। उनमें पैदा हुआ व्यक्तिगत दृढ़ विश्वास और अपने सिद्धान्त के लिए कष्ट-सहन करने की भावना, अपितु समय आने पर प्राणों तक को न्योछावर कर देने की तय्यारी साधारण जनता पर बहुत गहरा असर डालेगी। इससे उनको अनायास ही ऐसे अनगिनत साथी मिल जायेंगे, जो उनके मार्ग का अवलम्बन करेंगे और उनसे भी अधिक उत्साह से काम करेंगे। यह याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य सारे देश में एक ऐसे राष्ट्रीय धर्म की स्थापना करना होगा, जिससे सारे हिन्दू भ्रातृभाव की एक शृंखला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास के इस आदेश का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन-मन-धन सर्वस्व को देशहित के लिए अर्पण कर दो।"

गुरुकुल कांगड़ी को लक्ष्य करके इस लेख में लिखा गया था कि "सरकार के लिए सब से अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्यसमाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का शिक्षा समाप्त करने के बाद सरकार के प्रति क्या रुख होगा? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढांचे में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास एवं श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके प्रचार में मक्कारी, सन्देह, समझौते या भय की छाया तक न होगी और उसका सर्वसाधारण के हृदय पर सीधा असर पड़ेगा।" गुरुकुल की बुनियाद जिस

भावना पर रखी गई थी, उसको प्रगट करने के लिए स्वामी श्रद्धानन्दजी (तब के महात्मा मुंशीराम जी) के उन दिनों के दौरों का इस लेख में उल्लेख किया गया है, जब वे गुरुकुल के लिए तीस हजार जमा करने को गले में झोली डाल कर घर से निकले थे। उसमें लिखा गया है कि "पंजाब की पुलिस की रिपोर्टों में यह दर्ज है कि सन् १८९९ में जब लाला मुन्शीराम अमृतसर के पण्डित रामभजदत्त के साथ गुजरात, सियालकोट और गुजरांवाला का दौरा करते हुए धन-संग्रह कर रहे थे, तब उन्होंने सरकार की निन्दा शरारत भरे शब्दों में अन्य बातों के साथ यह कहते हुए की थी कि "सिपाही कितने मूर्ख हैं, जो सत्रह-सत्रह अठारह-अठारह रुपयों पर भरती होकर अपना सिर कटवाते हैं। गुरुकुल में शिक्षित होने के बाद ऐसे आदमी सरकार को नहीं मिलेंगे।" इसी लेख में आगे लिखा गया था कि "कांगड़ी में मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिक-उत्सव पर कोई साठ-सत्तर हजार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठा होते हैं। कई दिनों तक यह उत्सव होता है। पुलिस, स्वास्थ्य और सफाई का सारा प्रबन्ध गुरुकुल वाले स्वयं करते है। बंगाल में मेलों पर जैसे सारा प्रबन्ध स्वयंसेवक स्वयं करते है, वैसे ही यहा ब्रह्मचारी स्वयंसेवकों का सारा काम करते हैं। संगठन और प्रबन्ध की दृष्टि से यह काम सर्वथा त्रुटि-रहित होता है। उत्सव पर इकट्ठे होने वालों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी-बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं। बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियाँ आभूषण तक देती हैं।" गुरुकुल के उद्देश्य और वहां के तपस्वी, कठोर, संयमी और निर्भीक जीवन की चर्चा करते हुए फिर लिखा गया है कि "विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए

इन संन्यासियों का राजनीति के साथ क्या सम्बन्ध होगा ? इस सम्बन्ध में गुरुकुल की महाशय रामदेव की लिखी हुई एक रिपोर्ट की भूमिका बड़ी रोचक है। उसके अन्त में लिखा गया है कि गुरुकुल में दी जाने वाली शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। आर्यसमाजियों का बाईबिल 'सत्यार्थप्रकाश' है, जो देशभक्ति के भावों से ओतप्रोत है। गुरुकुल में इतिहास इस ढंग से पढ़ाया जाता है कि उससे ब्रह्मचारियों में देशभक्ति की भावना उद्दीप्त होती है। उनमें उपदेश और आचरण दोनों से देश के लिये उत्कट प्रेम पैदा किया जाता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे संन्यासियों का दल तय्यार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के लिये भीषण संकट पैदा कर देगा।" वस्तुत: आर्यसमाज का सारा मिशन ही सरकार के लिये संकट पैदा करने वाला है। इसी लिये आर्यसमाज और गुरुकुल दोनों पर सरकार की चिरकाल तक वक्र दृष्टि बनी रही। एक गुप्तचर ने अपनी डायरी में गुरुकुल के बारे में कभी यह लिखा था कि "गुरुकुल की दीवारों पर ऐसे चित्र लगे हुये हैं, जिनमें अंग्रेजी राज से पहिले के भारत की अवस्था और अंग्रेजों के कलकत्ता में आने के दिनों की अवस्था दिखाई गई है। सन् १८५७ के राजविद्रोह के दिनों की लखनऊ की घटनाओं के चित्र भी लगाये गये हैं। बिजनौर के जिला मजिस्ट्रेट मि० ऐफ० फोर्ड ने जॉन आफ आर्क का वह बड़ा चित्र भी गुरुकुल में लगा हुआ देखा था, जिसमें वह अंग्रेजों के विरुद्ध सेना का संचालन कर रही है।" इस प्रकार गुरुकुल का अस्तित्व सरकार के लिये भारी आशंका और भय का कारण बना हुआ था।

आर्यसमाज के प्रति सरकार की आशंका और भय ने इतना भयानक रूप धारण किया कि १९०० से लेकर १९११-१२ तक के वर्षों में आर्यसमाज के लिये सरकार ने बहुत ही भीषण स्थिति पैदा कर दी। सरकार का कोप या प्रकोप चरम सीमा को पहुँच गया। आर्यसमाजी होने से ही लोगों को सरकारी नौकरियों के सर्वथा अयोग्य माना जाने लगा। अनेकों को सरकारी नौकरियों से हाथ धोना पड़ गया। सिख रेजीमेंट के एक क्लर्क गुलाबचन्द का आर्यसमाजी होना ही एक अपराध ठहरा कर उसको नौकरी से अलग कर दिया गया। करनाल जिले के एक जेलदार की डायरी पर उसके अफसर ने यह नोट लिखा कि "जेलदार तो बहुत अच्छा है। लेकिन, आर्यसमाजी है। इस लिये इस पर निगरानी रखी जानी चाहिये।" सेनाओं की राजभक्ति में खलल पड़ने के भय से उनका कभी छावनियों में जाना आर्डर निकाल कर रोका गया था। झांसी में श्री दौलतराम आर्योपदेशक पर इस लिये १०९ धारा में मुकदमा चलाया गया था कि उस पर अपने भाषण से कुछ सिपाहियों पर राजद्रोही प्रभाव डालने का आरोप लगाया गया था। पंजाब के एक ब्रिगेड के कमांडिंग अफसर ने जब सिपाहियों के लिये किसी भी राजनीतिक संस्था में शामिल न होने का हुक्म जारी किया था, तब आर्य-समाज का विशेष रूप से उल्लेख किया गया था। एक बार सेना के एक अस्पताल एसिस्टेण्ट को उसके अफसर ने आर्यसमाजी होने से ही स्तीफा देने को मजबूर किया और उसको स्वयं स्तीफ़ा तक लिख कर दे दिया। सरकार के धार्मिक मामलों में निरपेक्ष रहने की उसने दुहाई दी। पर, बेकार गई। रोहतक में आर्यसमाज की पुस्तकों के जब्त करने की ढुग-

डुगी पीटी गई थी। मुलतान छावनी के आर्यसमाज के मन्त्री की धार्मिक संस्था पर से टैक्स माफ करने की दरखास्त यह कह कर नामंजूर की गई थी कि "आर्यसमाज धार्मिक संस्था नहीं है। चर्च, चैपल, मन्दिर या मसजिद के समान उसका टैक्स माफ नहीं किया जा सकता।" इन्दौर की स्टेट पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल के आफिस के हैड एकाउण्टेण्ट श्री लक्ष्मणराम शर्मा को स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान-पद से अलग न होने के कारण अपनी नौकरी से अलग होने को बाध्य किया गया। जोधपुर में वायसराय की सवारी के रास्ते में आर्यसमाज-मन्दिर आने से 'ओ३म्' का झण्डा और साइन बोर्ड उतरवा दिये गये। संयुक्त प्रान्तीय जाट सभा के विरोध करने पर भी कुछ जाटों को आर्यसमाजी होने से सेना से अलग कर दिया गया। १९०९ के सितम्बर मास में पटियाला में आर्यसमाज के विरुद्ध चलाया गया मुकदमा सरकार की वक्र दृष्टि का सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण है। वहां सभी आर्यसमाजियों को एक साथ गिरफ्तार करके उनके कागज-पत्र और पुस्तकें आदि सब जब्त कर लिये गये थे। रियासत की ऊंची नौकरियों में लगे हुये आर्य-समाजियों को भी बाद नहीं दिया गया था। समाज-मन्दिर पर भी पुलिस तैनात कर दी गई थी। १२४ अ, १५३ अ और १२१ अ की संगीन धाराओं में उनके विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिये एक खास ट्रिब्यूनल की नियुक्ति की गई थी। उन दिनों के क्रान्तिकारी और षड्यन्त्र के सुप्रसिद्ध दक्षिणेश्वर बम केस के समान इस मुकदमे की भी सरकार की ओर से तय्यारी की गई थी। सरकार ने इसे बतौर एक टैस्ट केस के चलाया था। इसको अधिक से अधिक भीषण रूप दिया गया। महीनों

मुकद्दमे का नाटक होता रहा। अन्त में सरकार की नीति में एकाएक परिवर्तन हो जाने से मुकद्दमा उठा लिया गया। लेकिन, सरकार की ऊंची नाक कायम रखने के लिये आर्यसमाजियों को रियासत छोड़ देने का हुक्म दिया गया। अन्य अनेक स्थानों पर तो ऐसा कोई नाटक रचने की भी जरूरत महसूस नहीं की गई। आर्यसमाज के रजिस्टरों से आर्य सभासदों की सूची से दस नम्बर के लोगों की लिस्ट तय्यार की जाती थी। उनके आगे-पीछे खुफिया पुलिस लगी रहती थी। यह वस्तुतः आर्यसमाज के लिये संकट का समय था। उसे कड़ी परीक्षा की कसौटी पर कसा गया। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने तब लिखा था कि "यह बात छिपी हुई नहीं है कि पंजाब के सब डिपुटी कमिश्नरों ने अपने आधीन तथा पराधीन सब कर्मचारियों को समझा दिया है "कि यदि वे आर्यसमाज के अधिवेशन में सम्मिलित होंगे, तो उनको अपनी आजीविका से हाथ धोना होगा।........ राजपुरुषों ने एक ओर नौकरी को रख कर स्पष्ट कह दिया है कि यदि टकों से हाथ न धोना हो, तो आर्यसमाज को छोड़ दो।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी (उस समय के महात्मा मुंशीराम जी) ने आर्य-समाज की नैतिकता की रक्षा करने में कुछ भी उठा न रक्खा था। लेकिन, अफसोस कि उनके यत्न और उनका व्यक्तित्व भी आर्यसमाज को नैतिक पतन से बचा न सका।

७

नैतिक पतन

"यदि तुमसे यह कहा जाय कि अपने परमात्मा और उसकी पवित्र वाणी वेद से विमुख होकर ही प्रजा-धर्म का पालन हो सकता है, तो तुम स्पष्ट उत्तर दो कि जिस आत्मा पर संसार के चक्रवर्ती राजा का भी अधिकार नहीं हो सकता, उसको सांसारिक ऐश्वर्य पर न्यौछावर करने के लिये तुम उद्यत नहीं हो।" "आर्य पुरुषो! क्या तुमको परमात्मा पर सच्चा विश्वास है? यदि है, तो फिर दो हाथ वालों की खातिर सहस्रबाहु वाले का क्यों अनादर करते हो? दो भुजा वाला जिस रोज़ी को छीन सकता है, क्या सहस्रबाहु उससे बढ़ कर तुमको रोज़ी नहीं दे सकते?" "संसार का सुख क्षणिक है, धर्म सदा रहने वाला है। इस लिये संसार को धर्म पर न्यौछावर करना ही आर्यत्व है।" "जो सरकारी नौकर वैदिक धर्म के गौरव को नहीं समझते, उनको अपनी निर्बलता मान कर आर्यसमाज से जुदा हो जाना चाहिये। जहां वेद और इण्डियन पीनल कोड का विरोध हो, वहां श्रुति को धर्म का मूल मानना तथा जहां परमात्मा की आज्ञा का सांसारिक राजा की आज्ञा से विरोध हो, वहां परमात्मा की शरण लेना यदि अभीष्ट न हो, तो फिर आर्यसमाज में रह कर भी क्या लाभ होगा।" "इसी जन्मभूमि के लिये कष्ट सहन करना, इसी की सेवा में सारा पुरुषार्थ लगाना और इसी पर सर्वस्व न्यौछावर करना यदि एक एक भारतवासी अपना धर्म समझ ले, तो परमात्मा की भी उन पर असीम कृपा हो

जाय; किन्तु यहां यही तो कमी है। सचाई की वेदी पर विश्वास से सिर रखने वाले कहां दिखाई देते हैं? क्या आर्यावर्त की पवित्र भूमि धर्मवीरों से शून्य हो गई है?"—ये पंक्तियां उन कुछ लेखों में से हैं, जो १६०० से १६१२ तक के वर्षों में महात्मा मुंशीराम जी (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने अपने पत्र "सद्धर्मप्रचारक" में आर्यसमाजियों की नैतिकता की रक्षा करने के लिये उनको सम्बोधन करते हुये लिखे थे। उन लेखों में से कई लेख आज भी उतने ही उपयोगी हैं; जितने कि वे तब थे, जब कि लिखे गये थे। "क्या आर्यसमाज वेद प्रचारिणी सभा है या पोलिटिकल सोसाइटी?" "आर्यसमाज और स्वराज्य", "अब क्या करना चाहिये?" "आर्यसमाज और बृटिश गवर्नमेएट" इत्यादि शीर्षकों से उन दिनों में महात्मा जी ने सैकड़ों ही लेख लिखे थे और आर्यसमाज तथा आर्यसमाजियों को अपनी नैतिकता पर कायम रहने के लिये उन्होंने निरन्तर साहस, बल और धैर्य प्रदान किया था। आर्यसमाज का धर्म और राजनीति दो भिन्न भिन्न चीजें नहीं थीं। दोनों एक दूसरे की पूरक और सहायक थीं। शरीर और आत्मा की तरह दोनों अन्योन्याश्रित थीं, एक देह के वे दो फेफड़े थे। आर्यसमाज के शुरू दिनों के साधारण गीत भी इसके प्रमाण और साक्षी हैं। लेकिन, यह मानना होगा कि इस संकट काल में आर्यसमाज राजनीति से विचलित हो गया। अन्य साम्प्रदायिक संस्थाओं के समान आर्यसमाज में भी अपने को कोरी धार्मिक संस्था सिद्ध करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ गई। सरकारी नौकरियों और सरकारी नौकरों की अधिकता आर्यसमाज को ले डूबी। महारानी विक्टोरिया की धार्मिक निरपेक्षता की घोषणा की आड़ ली जाने लगी। आत्म-रक्षा के लिये

दूसरा कोई उपाय आर्यसमाज को इस समय दीख न पड़ा। संयुक्त-प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का १० सितम्बर १६०७ का सरक्युलर नं० ४ उसके पतन और पराजय का घोषणा-पत्र था, जिसे पढ़ कर आज भी लज्जा अनुभव होती है। झांसी के आर्योपदेशक श्री दौलतराम के मुकद्दमे की पैरवी के लिये कोई आर्य वकील मिलना मुश्किल हो गया था। वहां की समाज के प्रधान वकील थे; लेकिन, एक आर्यसमाजी भाई का मुकद्दमा लड़ने का साहस उनको भी नहीं हुआ। महात्मा मुंशीराम जी ने जब महाशय विष्णुदत्त जी वकील को मुकद्दमा लड़ने के लिये वहाँ भेजा, तब वहां के समाज के मन्त्री ने उन पर यह नोटिस तामिल किया कि "मालूम हुआ है आप दौलतराम के मुकद्दमे के मुतल्लिक तशरीफ लाये हैं। इसलिये आपको समाज-मन्दिर में ठहरने की इजाजत नहीं है। आप किसी दूसरी जगह ठहरें।" जब सभाओं से आर्य सभासदों की सूची मांगी जाने लगी, तब कितनों ही ने आर्यसमाज की सभासदी को तिलांजली दे दी। पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द जी को आर्यसमाज का सभासद् तक मानने से इन्कार किया जाने लगा। मांडले से वापिस लौटने पर लाला जी का व्याख्यान कराने का अनारकली आर्यसमाज को साहस नहीं हुआ। ऋषि दयानन्द के लेखों का विपर्यास कर उनको भी राजभक्त सिद्ध करने की कोशिशें की गईं। बड़े बड़े नामी आर्यसमाजी नेता भी पटियाला में पैरवी करने के लिये जाने का साहस न दिखा सके। ५०० रुपये रोजाना की फीस पर भी जाने का उनको साहस न हुआ। महात्मा मुंशीराम जी ने इस सारी कहानी को बहुत दर्दभरे शब्दों में लिखते हुये लिखा है कि "केवल जालन्धर

के राय बद्रीदास और लाहौर के लाला द्वारकादास ने हमारा साथ दिया।" आर्यसमाज में पहिली कोटि के वकीलों और बैरिस्टरों की कमी नहीं थी। पटियाला के मुकद्दमे के लिये बनाई गई डिफेंस कमेटी तक का उन्होंने साथ नहीं दिया।

इस प्रकार आर्यसमाज अपने नैतिक आदर्श से स्पष्ट ही गिर गया और अब तो उस पर "भवति विनिपातः शतमुखः" की उक्ति चरितार्थ हो रही है। उस समय के आर्यसमाजियों की इन हरकतों पर उसका सदा ही विरोध करने वाले बम्बई के "श्री बैंकटेश्वर समाचार पत्र" तक ने यह लिखा था कि "आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पंजाबी अफसरों के टूट पड़ने पर वह विचलित हो गया है। उसने सफाई के इजहार देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है, किन्तु धार्मिक संस्था है। आर्यसमाज नाहक में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तों में लगा रहे। उसका पक्ष सत्य है, तो उसके लिये घबराने का कोई कारण नहीं। कर नहीं, तो डर क्या?" महात्मा मुन्शीरामजी ने आर्यसमाजियों की नैतिकता की रक्षा करने में कुछ भी उठा न रखा। आपने १६६४ के आषाढ़ मास के 'सद्धर्मप्रचारक' में लिखा था कि "मुझ से पूछा जाता है कि अब हम क्या करें? जिलों के हाकिम हमें तंग कर रहे हैं। आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में सम्मिलित होने से सरकारी नौकरों को जबरदस्ती रोका जाता है। कायर पुरुषों ने इस डर से कई स्थानों में आर्यसमाज की सभासदी से स्तीफा दे दिया है। वैदिक धर्म का प्रचार सर्वथा बंद होता दीखता है। इसका इलाज क्या करें?" "मेरे पास उत्तर एक ही है कि कायरों का वैदिक धर्म की

सेवा के लिय उद्यत होने का क्या काम है ?" जोधपुर के समाज के मन्त्री को आपने सलाह दी थी कि वह झण्डा और साइन बोर्ड उतारने की आज्ञा का पालन नहीं करे। यदि पुलिस पाशविक शक्ति का प्रदर्शन करती हुई वैसा करे, तो उसका प्रतिकार भी न किया जाय। दौलतराम के मुकद्दमे को लेकर आपने न केवल झांसी की आर्यसमाज को, बल्कि संयुक्तप्रान्त की प्रतिनिधि सभा को भी फटकार बताई थी और उसे मुकद्दमा अपने हाथ में लेने को मजबूर किया था। ऐवटाबाद (सीमा प्रान्त) के प्रधान श्री धनीरामजी के अदालत में निर्दोष साबित हो जाने पर भी उनको जब एक वर्ष के लिये प्रान्त से निर्वासित किया गया, तो आपने प्रचण्ड आन्दोलन उठाया। आर्यसमाज के सभासदों की सूची माँगी जाने पर आपने लिखा था कि "वही पुलिस और तहसील वाले, जो अपनी रिश्वतखोरी और स्याहकारी के कारण स्पष्ट वक्ता आर्यसमाजियों से कांपा करते थे, आज जगह-जगह पर उनको धमकाने की चेष्टा करते हैं। जब और बस नहीं चलता, तब सभासदों की सूची मांगने लगते हैं। मेरी सम्मति में आर्यसमाज के किसी भी मन्त्री को सभासदों की सूची नहीं देनी चाहिए।" कराची केस के लिये आप की प्रेरणा पर एक डिफेंस फण्ड कायम किया गया था। जब बिना बुलाये सरकार के पास डेपुटेशन ले जाने का सवाल उठाया गया, तब उसका आपने सख्त विरोध किया। ऐसे महान् , निर्भीक और तेजस्वी नेता को पाकर भी आर्यसमाज अपने मार्ग से विचलित हो गया। उसकी नैतिकता का आसन डोल गया। राजनीति से उसने मुँह मोड़ लिया। अपने को सिर्फ धार्मिक संस्था बताने और सिद्ध करने में अपना सारा पुरुषार्थ लगा दिया। राजनीति का फेफड़ा निकम्मा पड़ गया और

दूसरा भी क्षय रोग से पीड़ित हो गया। उस क्षय-पीड़ित फेफड़े के सहारे आर्यसमाज को जीवित रखने की कोशिश की जा रही है। लेकिन, ऐसे कब तक गुजारा चलेगा ?

स्वर्गीय पंजाबकेसरी लाला लाजपतरायजी के लिखने के अनुसार सरकार द्वारा पैदा की गई वर्षों की गृह-कलह या भेदनीति और उसके बाद वर्षों तक अमल में लाई गई दमन की कठोर नीति जिस आर्यसमाज का बाल बांका न कर सकी, उसको सरकार की सामनीति ने कुछ ही दिनों में मुर्झा दिया। विष की गोली जिस पर कुछ भी असर न कर सकी, उसको मीठे की गोली ने सुला दिया। सरकार की नीति में सहसा परिवर्तन हुआ। लार्ड हार्डिङ्ग ने भारत में पैर धरते ही जिस नीति से काम लेना शुरू किया, आर्यसमाज सहसा उसके जाल में उलझ गया। महात्मा मुन्शीरामजी सरीखा तेजस्वी नेता भी उस उलझन से बच न सका। बिना बुलाये सरकार के पास डेपुटेशन ले जाने के आप विरुद्ध थे; लेकिन, राजर्षि गोखले और सर विलियम वैडरबर्न की मार्फत आपने सरकारी लोगो, खास कर तत्कालीन वायसराय से मिलने की पूरी कोशिश की। कूटनीतिज्ञ अंग्रेज अधिकारियों ने आर्य नेताओं की इस कमजोरी से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था है, और उसका राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आर्यसमाज को इससे सन्तोष हो गया। सरकार को और क्या चाहिए था ? जो वह चाहती थी, सो हो गया। महात्मा मुंशीरामजी ने स्वयं लिखा था कि "लार्ड मिण्टो एक बार आर्यसमाज के आदमियों को बुला कर उन से खुली बातचीत करें। तब उनको पता लगेगा कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का शत्रु कौन है

और किस प्रकार उससे उसकी रक्षा हो सकती है?" अपने को सरकार का मित्र सिद्ध करने की इच्छा आर्यसमाज के गले की फांसी बन गई। लार्ड मिण्टो तो आर्यसमाजियों की इस इच्छा को पूरा न कर सके। राजर्षि गोखले की प्रेरणा पर सर विलियम वैडरबर्न ने नये वायसराय हार्डिङ्ग तक आर्यसमाज की इस पुकार को पहुँचाया। २४ मार्च १६११ को महात्मा मुन्शीरामजी को लिखे गये पत्र में राजर्षि गोखले ने लिखा था कि "आर्य-समाज के बारे में सरकारी अधिकारियों को जो सन्देह है, उस पर सर विलियम वैडरबर्न की नये वायसराय के साथ बहुत-सी बातें हुई हैं। मैं आपके मिलने पर उनका सारांश आपको बताना चाहता था। आप आ नहीं सके। फिर भी मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि सर विलियम ने वायसराय पर बहुत जोर डाला है कि सन्देह के कारण सारे देश के आर्य-समाजियों को जो शिकायतें हैं, वे अवश्य दूर की जानी चाहियें। वायसराय ने बड़े ध्यान से सब बातें सुनीं और प्रतिज्ञा की है कि वे शीघ्र ही जैसा उनको सुझाया गया है, वैसी कार्यवाही करेंगे। इस लिये मेरा यह लिखना है कि यदि आर्यसमाज की ओर से वायसराय के सामने सब बात रखी जा सके, तो अच्छा होगा।" सर विलियम वैडरबर्न १६११ में इलाहाबाद में हुई कांग्रेस के राष्ट्रपति थे। दीनबन्धु एण्डरूज से भी महात्माजी ने काफी काम लिया।

सरकार और आर्यसमाज के बीच का सन्देह दूर होकर दोनों ही ओर से जिस नयी नीति से काम लिया जाने लगा, वह आर्यसमाज के लिये बहुत मंहगी पड़ी। दिल्ली में लार्ड हार्डिङ्ग ने जब प्रवेश किया था, तब आर्यसमाज की ओर से अपनी निष्कलंक राजभक्ति का प्रदर्शन करने के

लिये एक महान् आयोजन किया गया था, जो आज हास्यास्पद प्रतीत होता है। आर्यसमाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का दफ्तर तब परेड के मैदान के सामने था। सड़क पार मैदान में बृहद् यज्ञ की व्यवस्था की गई। स्वस्तिवाचन एवं शान्तिप्रकरण आदि का पाठ वायसराय के लिये किया गया और जब उनकी सवारी वहां से गुजरी, तब सब आर्य नेताओं ने खड़े होकर, हाथ जोड़ कर, माथा नवा कर "नमस्ते ऽस्तु भगवन्" के नारे लगाये। मालूम नहीं कि वायसराय तक वह आवाज पहुंची भी होगी कि नहीं ? इस आयोजन में पंजाब और युक्त-प्रान्त के सभी आर्य नेता सम्मिलित हुये थे। इस प्रकार सरकार और सरकारी अधिकारियों का विश्वास सम्पादन किया गया। लार्ड हार्डिंग तो गुरुकुल कागड़ी न आ सके; किन्तु लार्ड चैम्सफोर्ड गुरुकुल पधारे और युक्तप्रान्त के तत्कालीन लैफ्टिनैण्ट गवर्नर सर जेम्स मैस्टन तो (जो बाद में 'लार्ड' बने) कई बार गुरुकुल कागड़ी पधारे और गुरुकुल बृन्दावन भी गये। आर्यसमाजियों को इससे जो सन्तोष मिला, उसकी ध्वनि तब युक्तप्रान्तीय धारा सभा में सुन पड़ी थी। लखनऊ के "एडवोकेट" पत्र के संचालक स्वर्गीय रायबहादुर बाबू गंगाप्रसाद जी वर्मा ने १६१३ के अप्रैल मास में प्रान्तीय धारा सभा में भाषण करते हुये लैफ्टिनेण्ट गवर्नर को लक्ष्य करते हुये कहा था कि "मैं श्रीमान् को उस राजनीतिपूर्ण और साहसपूर्ण कार्य के लिये बधाई देना चाहता हूं, जो आपने उन देशभक्त शिक्षकों को दर्शन देकर किया है, जो महात्मा मुंशीराम जी के नेतृत्व एवं संरक्षण में राष्ट्रीय ढंग पर शिक्षा के क्षेत्र में अलौकिक परीक्षण कर रहे हैं; जिन्होंने पश्चिम की अच्छाइयों को पूर्वीय आदर्शों के साथ एक कर

दिया है। मैं श्रीमानों के गुरुकुल पधारने को इस लिये साहसपूर्ण कार्य कहता हूं, क्योंकि मुझको मालूम है कि इस प्रान्त के अधिकतर अफसर झूठी और स्वार्थपूर्ण रिपोर्टों के आधार पर आपके हृदय में यह सन्देह पैदा कर रहे थे कि गुरुकुल भारत के शान्त विकास में विघ्न पैदा करने वाले लोगों को उत्पन्न करने में लगा हुआ है। आपके गुरुकुल पधारने और वहां की गई घोषणा से आशा है कि ऐसे लोगो के विचार गुरुकुल के सम्बन्ध में बदल जायेंगे। आपने उन लोगों को सचमुच प्रोत्साहन दिया है, जो जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे हुये हैं। इससे वे लोग सरकार के अधिक नजदीक आ जायेंगे, जिनके हृदय मातृभूमि को फिर से पुरातन गौरव प्राप्त किया हुआ देखने को उतावले हो रहे हैं।" सर जेम्स मैस्टन ने गुरुकुल में यह घोषणा की थी कि "न केवल इस प्रान्त में, किन्तु समस्त भारत में गुरुकुल एक सर्वथा मौलिक और कुतुहलपूर्ण परीक्षण है। मैं यहां आकर उन लोगों से भी मिलना चाहता था, जिनको सरकारी रिपोर्टों में निस्सीम, अज्ञात और भीषण विपत्ति का स्रोत बताया गया है।........एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिये मेरा आदर्श गुरुकुल है।" लार्ड चैम्सफोर्ड ने भी इसी प्रकार गुरुकुल की तारीफ के पुल बांधे थे। 'सरकार के अधिक नजदीक आने' की आर्यसमाजियो की इच्छा को सरकार ने पूरा किया और उनको अपनी नौकरियों तथा खिताबो आदि के मायाजाल में उलझा लिया। गुरुकुल और आर्यसमाज की सरकारी लोगों से तारीफ सुन-सुन कर आर्यसमाजी फूले न समाते थे। इसका परिणाम वही हुआ, जो आज हमारे सामने है। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज (तब के महात्मा मुन्शीरामजी) सरकार की इस व्यूह रचना को ताड़ गये थे और

वे चाहते थे कि आर्यसमाज उससे बचा रहे। उन्होंने लिखा था कि "गुरु-कुल अपने जन्म-दिन से अब तक, नौकरशाही के जाल से बचा हुआ, अपना काम करता आ रहा है। इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये? जिन सुनहरी जंजीरों को जातीयता का अभिमान करने वाले अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहिन लिया, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने कितनी बार उनके सामने पेश की गईं। परमेश्वर ने उनको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।" लेकिन, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आर्यसमाजियों ने व्यक्तिगत रूप से और राजनीति से संन्यास लेकर आर्यसमाज ने सामूहिक रूप से दासता की इन सुनहरी जंजीरों में अपने हाथों अपने को जकड़ लिया। आज तो गुरुकुल के संचालकों और कार्यकर्त्ताओं में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो इस दासता और सुनहरी जंजीरों के लिये लालायित हैं। युक्तप्रान्त में कांग्रेसी सरकार की स्थापना से उनकी भी जीभ में सहसा पानी आ गया और अपनी तपस्या से वे एकाएक विचलित हो गये। आज कांग्रेसी सरकार का पटाक्षेप हो जाने के बाद भी उनके विचारों का न बदलना आश्चर्य-जनक है। लार्ड मैकाले द्वारा जारी की गई अंग्रेजी-शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह के रूप में जिस गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ था, उसके संचालकों और कार्यकर्त्ताओं की मनोवृत्ति में हुआ यह परिवर्तन खेदजनक है। गुरुकुल और आर्यसमाज दोनों ही अपने क्रान्तिकारी स्वरूप, विप्लवकारी कार्यक्रम और विद्रोहकारी मिशन को भुलाकर, महाराणा प्रताप के संकटाकीर्ण मार्ग से विचलित होकर, मानसिंह के सुखोपभोग के सरल, निश्चिन्त एवं निर्विघ्न मार्ग पर आकर खड़े हो गये हैं।

इस नैतिक पतन का सब से भयानक परिणाम यह हुआ है कि देश के सार्वजनिक जीवन का नेतृत्व प्राय: सभी क्षेत्रों में आर्यसमाज के हाथों से छिन गया है । प्रकृति अत्यन्त निठुर और कठोर है । वह किसी के साथ भी रियायत नहीं करती । उसके नियमों की मार से कोई भी बच नहीं सकता । रोगी की सेवा के शुभ कार्य तक के लिये रात को जागरण करने वाला भी रात के जागने के दुष्परिणामों से बच नहीं सकता । जीवन की चोटी से विनाश की खाई की ओर एक पग भी जिसका फिसला कि उसका मृत्यु के मुख से बचना मुश्किल हो जाता है । "भवति विनिपात: शतमुख:" के प्रकृति के कठोर नियम से अपने को बचा सकना उसके लिये सम्भव नहीं रहता । वही स्थिति आर्यसमाज की हुई । देश में राष्ट्रीय जीवन की ज्योति जगाने वालों में इस युग में पहिला स्थान ऋषि दयानन्द का है । जो भूमि ऋषि ने तय्यार की थी, उसी में लोकमान्य तिलक ने बीज बखेरे थे और उसी की रखवारी आज महात्मा गाँधी कर रहे हैं । लेकिन, लोकमान्य के अनुयायियों के हाथों से जैसे उनकी करतूतो से देश के सार्वजनिक जीवन के नेतृत्व की बागडोर छिन गई और आज उनके प्रभाव का दीपक बुझ-सा गया, ठीक वैसी ही-सी स्थिति आर्यसमाज एवं आर्यसमाजियों की हुई और होती जा रही है । निस्सन्देह, आर्यसमाज ने दलितोद्धार के क्षेत्र में अद्भुत कार्य किया है, दलित कहे जाने वाले भाइयों को अपनाने के पीछे नाना प्रकार के सामाजिक अत्याचारों को झेला है और उनके लिये जाति-बहिष्कार तक की यातनायें सहन की हैं; लेकिन, आज इस निर्दोष सामाजिक क्षेत्र का नेतृत्व भी आर्यसमाज के हाथों से छिन कर उनके हाथों में चला गया है, जिन्होंने 'दलितों के

उद्धार' की अहम्मन्यता का परित्याग कर अपने को 'हरिजनों की सेवा' में लगा दिया है। आर्यसमाज की गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली विद्रोह के रूप में प्रगट हुई, गुरुकुल के राष्ट्रीय शिक्षा के महान् परीक्षण को उसने सफलता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया और गुरुकुल के अलावा भी उसने शिक्षा के क्षेत्र में चमत्कार कर दिखाया; लेकिन, इधर शिक्षा के सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र में किये जाने वाले परीक्षणों से यह प्रगट है कि शिक्षा के नेतृत्व की बागडोर भी आर्यसमाज के हाथों से निकल गई है। कालेजों और हाई स्कूलों आदि को व्यर्थ बता कर उनकी निन्दा करने वाले गुरुकुल के समर्थक भी आज बहती गंगा में ही हाथ धोने में लगे हुए हैं। सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से सनातनी और आर्यसमाजी में आज अधिक अन्तर नहीं रहा। जात-बिरादरी और शादी-गमी आदि के सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों में भी दोनों में विशेष अन्तर नहीं रह गया है। इसीसे सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी आर्यसमाज के नेतृत्व की ज्योति क्षीण पड़ गई है। शुद्धि एवं संगठन के दिनों में आर्यसमाज का नेतृत्व एक बार फिर चमका था। लेकिन, गुण-कर्म-स्वभाव की वर्ण-व्यवस्था को अपनाये बिना और जन्मगत जात-पात को दिल, दिमाग एवं व्यवहार में से मिटाये बिना उसमें सफल होना सम्भव नहीं था। इस लिये इस अवसर से भी आर्यसमाज यथेच्छ लाभ न उठा सका। न तो शुद्धि एवं संगठन का आन्दोलन सफल हो सका और न आर्यसमाज अपने खोये हुए नेतृत्व की फिर से स्थापना करने में सफल हो सका। हिन्दी को सामूहिक रूप से अपनाने वाली पहिली संस्था आर्यसमाज है। उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द ने गुजरात में जन्म लेकर और संस्कृत

में महापाण्डित्य का सम्पादन करने के बाद भी हिन्दी को अपना कर जिस आदर्श की स्थापना की, उसको स्वामी श्रद्धानन्दजी और उनके साथियों ने यहां तक अपनाया कि हिन्दी में ऊँची से ऊँची शिक्षा देने का महान् और सफल परीक्षण सबसे पहिले उन्होंने ही करके दिखाया। दक्षिण में सब से पहिले हिन्दी की पताका को फहराने का श्रेय भी स्वामी श्रद्धानन्दजी और उनके शिष्यों को है। लेकिन, आज इस क्षेत्र में भी आर्यसमाज नेता नहीं रहा। दक्षिण की बात तो क्या की जाय, उत्तर और पंजाब तक में आर्यसमाजी हिन्दी के प्रचार में पिछड़ चुके हैं। इस प्रकार इस क्षेत्र में भी नेता के रूप में आर्यसमाज को न देख कर मर्मान्तक वेदना होती है। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपने पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' को, तब एकाएक उर्दू से हिन्दी और देवनागरी में निकालना शुरू किया था, जब पंजाब से हिन्दी में समाचार-पत्र प्रकाशित करने की किसी को कल्पना तक न थी। लेकिन, आज हिन्दी के लिये इतना शोर मचाये जाने पर भी आर्य नेताओं के पत्र बराबर उर्दू में निकल रहे हैं। तब कैसे आर्यसमाज का नेतृत्व हिन्दी के क्षेत्र में कायम रह सकता था? इस प्रकार प्रायः सभी क्षेत्रों में से और सारे ही सार्वजनिक जीवन में से आर्यसमाज का प्रभाव मिट-सा गया और सार्वजनिक नेतृत्व भी उसके हाथों से छिन गया।

आज आर्यसमाज में आकर्षण न रहने की शिकायत आम तौर पर सुनने में आ रही है। किसी नवीन कार्यक्रम की चारों ही ओर खोज की जा रही है। जिस संस्था के पास विश्वव्यापी कार्यक्रम हो और जिसके सार्वभौम होने का दावा किया जाता हो, उसकी ऐसी स्थिति निश्चय ही खेद पैदा करने वाली है। लेकिन, इसका कारण भी राजनीति से मुंह

मोड़ लेने के बाद हुआ नैतिक पतन है। पहिये के फट जाने से उसकी हवा निकल जाने के बाद मोटर की जो हालत हो जाती है, वही हालत राजनीति से मुंह मोड़ लेने के बाद आर्यसमाज की हो गई। राजनीति इस युग की आत्मा है। इस चेतना को खोने के बाद जैसे देह का काम नहीं चल सकता, ठीक वैसे ही राजनीति को त्यागने के बाद सार्वजनिक संस्थाओं और उनके कार्यक्रम की भी चुम्बक-शक्ति नष्ट हो जाती है। उनका सार्वजनिक स्वरूप मिट जाता है। वे अन्य अनेक साम्प्रदायिक संस्थाओं के समान रह जाती हैं। लकीर को पीटते रहना उनका कार्यक्रम बन जाता है। भावनाओं को भुला कर वे कोरे कर्मकाण्ड के विधि-विधान में अपने को सीमित कर लेती हैं। उदार, प्रगतिशील एवं व्यापक प्रवृत्तियों से मुंह मोड़ कर वे साम्प्रदायिक, संकुचित एवं अनुदार प्रवृत्तियों में उलझ जाती हैं। जीवन, ज्योति एवं जागृति का उनको अभाव-सा प्रतीत होने लगता है। आर्यसमाजी भाई हृदय पर हाथ धरकर स्वयं ही निर्णय करें कि आर्यसमाज को हमने आज इसी स्थिति में पहुंचा दिया है कि नहीं?

सबसे बड़ी हानि इससे आर्यसमाज को यह उठानी पड़ रही है कि उसमें नया खून आना प्रायः बंद-सा हो गया है। सार्वजनिक भावना वाले नौजवान दूसरी ओर बह जाते हैं। धर्म अथवा सम्प्रदाय की अपेक्षा राष्ट्र अथवा देश की भावना अधिक उदार और व्यापक है। उसमें अधिक आकर्षण रहता है। जहां धर्म के नाम पर जीवन न्यौछावर करने वाले इने-गिने लोग मुश्किल से मिलते हैं, वहां देश व राष्ट्र के नाम पर कटने-मरने वालों की फौज की फौज तय्यार कर ली जाती है। राष्ट्रीय संस्थाओं का प्रभाव इसी से धार्मिक संस्थाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होता

है। उनका संगठन सहसा चारों ओर फैल जाता है। नवयुवक उनकी ओर स्वयं ही आकर्षित होते चले जाते हैं। आर्यसमाज में भी शुरू दिनों में यह आकर्षण विलक्षण रूप में बना हुआ था। आज भी जहां आर्यसमाज जाता है, वहां शुरू शुरू में उसके लिये आश्चर्यजनक प्रेम, श्रद्धा और आकर्षण दीख पड़ता है। लेकिन, उसके क्षीण पड़ने में अधिक समय नहीं लगता। निजाम हैदराबाद में किये गये सत्याग्रह से सारे ही दक्षिण में आर्यसमाज के लिये पैदा हुआ प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और आकर्षण अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण था। लेकिन, उससे उचित लाभ नहीं उठाया गया और वह दिन पर दिन क्षीण हो रहा है। नये खून के प्रवाह का जारी न रहना ही उसका एकमात्र कारण है। ऋषि के राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की जिन महान्, विशाल और व्यापक भावनाओं के सहारे इस प्रवाह को जारी रखा जा सकता था, उनकी उपेक्षा करने या भुला देने का यह अवश्यम्भावी और अनिवार्य परिणाम है। इन सब दुष्परिणामो को अपनी आंखों से देखते और भोगते हुये भी हम सचेत, सावधान एवं तत्पर न हों, तो इससे बढ़ कर हमारा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ?

इसमें सन्देह नहीं कि जिन दिनों में आर्यसमाज का नैतिक पतन हुआ, वह राजभक्ति का जमाना था। युरोप में महायुद्ध छिड़ जाने पर सर्वसाधारण के लिये राजभक्ति का प्रदर्शन करना और भी जरूरी हो गया। लोकमान्य तिलक और उनके साथियों की संख्या अधिक नहीं थी। सशर्त राजभक्ति का प्रदर्शन करने में उनको भी तब कोई विशेष आपत्ति नहीं थी। गान्धीजी तब निर्मल और निष्कलंक राजभक्ति का प्रदर्शन करने के पक्के पक्षपाती थे। महायुद्ध के बाद भी उनकी यही राय रही। भारत में

अंग्रेजी राज को ईश्वर की देन मान कर भगवान् की तरह उसकी स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना करने वालों में तब वे लोग भी शामिल थे, जो बाद में राष्ट्र के महान् और यशस्वी नेता के रूप में प्रगट हुये। इससे भी आर्य-समाजियों को राजनीति का परित्याग कर राजभक्ति की ओर जाने में प्रेरणा मिली और परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज राजनीति से सदा के लिये ही विमुख हो गया। महायुद्ध के बाद राष्ट्रीयता ने जोर पकड़ा, देश में राष्ट्रवाद का नया जन्म हुआ, स्वराज्य की भावना प्रबल रूप में जाग उठी और कांग्रेस का भी राष्ट्रीय दृष्टि से कायाकल्प हो गया। लेकिन, आर्यसमाज पर सामूहिक रूप से इसका कुछ भी असर न पड़ा। राष्ट्रीय वृत्ति के आर्यसमाजी, यहां तक कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज तक, राष्ट्रीय क्षेत्र में उतर पड़े; लेकिन, आर्यसमाज एकान्त भाव से धर्म-कर्म की उपासना में ही लगा रहा। महायुद्ध के बाद हिन्दुस्तान के प्रति किये गये विश्वासघात, पंजाब में फौजी शासन की तह में किये गये भीषण अत्याचार एवं वीभत्स अनाचार और अमृतसर के जलियान-वाला बाग में किये गये भयानक हत्याकाण्ड ने राष्ट्र की आत्मा में जो महान् विप्लव पैदा किया, उसकी प्रत्यक्ष साक्षी स्वामी श्रद्धानन्द जी के दिव्य जीवन से मिलने पर भी आर्यसमाज में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। तब अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन को सफल बनाना एकाकी उनके ही महान् प्रयत्न का शुभ परिणाम था। फिर दिल्ली में घण्टाघर के नीचे गुरखों की नंगी किरचों के सामने छाती तान कर खड़े होना, जामा मसजिद के मिम्बर पर से हिन्दू-मुस्लिम-एकता का अमर सन्देश सुनाना और गुरुका बाग सत्याग्रह में अकालियों के लिये जेल तक जाना न

केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के जीवन की महान् घटनायें हैं, बल्कि हमारे राष्ट्र के जीवन की भी वे ऐसी ज्वलन्त घटनायें हैं, जो प्रकाशस्तम्भ के समान सदा उज्ज्वल रहेंगी। इन घटनाओं का आर्यसमाज पर प्रभाव पड़ना तो दूर रहा, उनका मजाक करने वालों और आर्यसमाज के लिए उनको घातक एवं हानिकारक मानने वालों की भी उस समय आर्यसमाज में कमी नहीं थी। 'प्रकाश' के कालमों तक में तब ऐसे ही विचार प्रगट किये गये थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज ने राजनीति की ओर और देश की आजादी एवं स्वराज्य के लिए होने वाले महान् आन्दोलन की ओर पीठ मोड़कर कभी देखा ही नहीं। देश में पूरे वेग के साथ पनपने वाले राष्ट्रवाद में सहयोग देना दूर रहा, उसको भय एवं आशंका की दृष्टि से देखा गया और आर्यसमाज उसका विरोधी बन गया। धर्म और राजनीति को परस्पर सहायक और एक-दूसरे का पूरक न मान कर सर्वथा विरोधी माना जाने लगा। स्थिति कितनी निराशाजनक थी, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी के २५ सितम्बर १६२० को गुरुकुल-कांगड़ी से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तब के प्रधान लाला रामकृष्णजी के नाम लिखे गये एक पत्र से पता चलता है। स्वामी जी ने लिखा था कि "इस समय मेरी सम्मति में "असहयोग" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलम अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली, तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न पचास वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है। इस लिए मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊंगा। यदि आपकी सम्मति में इस काम में लगने

के लिये मुझे गुरुकुल व आर्यसमाज के अन्य कामों से अलग हो जाना चाहिए, तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे, मैं पब्लिक में भेज दूंगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता। मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।" जब स्वामी श्रद्धानन्द जी सरीखे माने हुए नेता और महान् व्यक्ति की यह स्थिति थी, तब दूसरों का तो कहना ही क्या था? राष्ट्रवाद की लहर से अपने को अलग रख कर आर्यसमाज ने जो हानि उठाई है, उसका कुछ अनुमान स्वामी जी के इस पत्र से लगाया जा सकता है। कितने ही युवक, जो आर्यसमाज के लिए शक्ति का पुंज, साबित हो सकते थे, उससे उदासीन हो गये। उनकी शक्ति का लाभ दूसरी संस्थाओं को मिला। आर्यसमाज की शक्ति, तेज, बल और वीर्य मंदा पड़ गया। किसी भी संस्था के नवयुवक ही तो उसके प्राण और शक्ति होते हैं। आर्यसमाज इस प्रकार उनसे वंचित रहने लग गया। उसका दुष्परिणाम आज हम सबके सामने है। उसको भोगते हुए भी यदि हम सचेत न हो सकें, तो फिर जीवन की आशा किस भरोसे की जा सकती है?

"अदीनाः स्याम शरदः शतम्" की दिन में बार बार प्रार्थना करने वाले आर्यसमाजियों के एकमात्र संगठन आर्यसमाज की स्थिति आज यह है कि देश की स्वाधीनता, स्वराज्य और राजनीतिक उत्कर्ष में उसकी कुछ भी दिलचस्पी नहीं है। मानो, उससे उसका कोई सरोकार ही नहीं है।

८

विद्रोह की आवश्यकता

"मुझ को एक आग दिखाई पड़ती है, जो सर्वत्र फैल रही है और प्रत्येक वस्तु को जला कर भस्म कर रही है। अमेरिका के विस्तीर्ण मैदानों, अफ्रीका के बीहड़ जंगलों, एशिया की ऊंची पर्वत चोटियों और युरोप के महान् राज्यों पर मुझे उसकी लपटें सुलगती हुई दिखाई दे रही हैं। इस अपरिमित आग को देख कर, जो निस्सन्देह राज्यों, साम्राज्यों और समस्त संसार की नीति तथा व्यवस्था के सब दोषों को भस्म कर डालेगी, मैं अत्यन्त आनन्दित होकर हर्षमय जीवन बिता रहा हूं। आकाश-चुम्बी पहाड़ों की चोटियां जल उठेंगी, घाटियों के सुन्दर और चमकीले नगर भुन जायेंगे, प्यारे घर और उनमें बेसुध हो प्रेममय जीवन बिताने वाले हृदय मोम की तरह गल जायेंगे। पाप ऐसे अन्तर्हित हो जायगा, जैसे कि सूर्य की सुनहरी किरणों के सामने ओस के बिन्दू अदृश्य हो जाते हैं। असीम उन्नति की आशा-विद्युत् से मनुष्य का हृदय चमक रहा है। उस की चिंगारियां आकाश की ओर उड़ती दीख पड़ती हैं। वक्ताओं, कवियों और ग्रन्थ-निर्माताओं की शिक्षाओं में भी कभी कभी उसकी लपटों की चमक दीख जाती है। आर्यसमाज की भट्टी में यह आग सनातन व पुरातन आर्य धर्म को स्वाभाविक पवित्र रूप में लाने के लिये सुलगाई गई है। भारत के एक परम योगी ऋषि दयानन्द सरस्वती के हृदय में यह प्रगट हुई थी। हिन्दु और मुसलमान उस प्रचण्ड आग को बुझाने के लिये चारों ओर से

पूरे वेग के साथ दौड़, परन्तु वह उत्तरोत्तर ऐसी तेजी के साथ बढ़ती और फैलती गई कि उसको प्रगट करने वाले दयानन्द को भी उसकी कल्पना न हुई होगी। ईसाइयों ने एशिया की इस प्रचंड ज्योति को बुझाने में हिन्दुओ और मुसलमानो का साथ दिया, परन्तु वह ईश्वरीय ज्योति और भी अधिक प्रज्वलित हो चारो ओर फैल गई। सम्पूर्ण विरोध एवं विघ्न-बाधाओ की घटा इस आग के सामने न टिक सकी। रोग के स्थान मे आरोग्यता, भूठे विश्वास के स्थान में तर्क, पाप के स्थान में पुण्य, अविश्वास के स्थान में विश्वास, द्वेष के स्थान में सद्भाव, वैर के स्थान में समता, नरक के स्थान में स्वर्ग, दुःख के स्थान में सुख, भूत-प्रेतो के स्थान में परमेश्वर एवं प्रकृति का राज्य हो जायेगा। मैं इस आग को परम मागलिक मानता हूं। जब यह आग सुन्दर भूतल पर नवजीवन का निर्माण करेगी, तो सर्वत्र सुख, शान्ति और सन्तोष छा जायगा।"——अमेरिका में बैठे हुये ऐण्डरोजैकसन डेविस ने आर्यसमाज के इस वास्तविक स्वरूप को समझा था। लेकिन, आर्यसमाज में प्रवेश करने के बाद भी हम उसके इस स्वरूप का दर्शन नही कर सके। आर्यसमाज के स्वरूप का यही वास्तविक चित्र है। भट्टी से उपमा देकर आर्यसमाज के मिशन का यथार्थ चित्र श्री डेविस ने अङ्कित कर दिया है। देश, समाज अथवा राष्ट्र का कायाकल्प करने के लिये महापुरुष जिस विद्रोह, विप्लव या क्रान्ति की आग सुलगाते हैं, उसे 'भट्टी' ही कहा जा सकता है। आर्यसमाज के रूप में ऋषि दयानन्द ने इस देश में विप्लव और महा क्रान्ति की यही भट्टी सुलगाई थी।

ऋषि अपने देश, समाज और राष्ट्र का जैसा कायाकल्प करना चाहते थे, उसका उदाहरण सिक्खों के इतिहास में तब मिलता है, जब गुरु

गोबिन्दसिंह जी महाराज ने अकाली पंथ की नींव डाली थी। तब गुरुजी ने क्या किया था? पंच प्यारों को उपदेश देते हुये गुरुजी ने कहा था कि:—

" गुरु घर जन्म तुम्हारे होए।
पिछले जाति वरण सब खोए॥
जन्म कैसगढ़ वासि आनन्दपुर।
होए पूत जाति तुम सत गुर॥
चार वरण के एको भाई।
धर्म खालसा पदवी पाई॥
हिन्दू तुर्क ते आदि निआरा।
सिंह मजब अब तुमने धारा॥
सिंह नाम परमेश्वर को है।
बड़े दबदबे वारो सो है॥
राखहु कच्छ केश कृपान।
सिंह नाम को इहै निशान॥"

यह था गुरु गोविन्दसिंहजी का नया पन्थ, जिसके बारे में आज भी यह कहा जाता है कि "धर्म स्थापबै को, पापन के खापबै को; गुरु जापबै को, नई रीति यों चलाई है।" वह नई रीति क्या थी? गुरु ने पंच प्यारों का घर बदल दिया, इसलिये कि उनको घर का मोह न रहे। उनके जाति और वर्ण भी सब मिटा दिये, जिससे उनमें किसी भी प्रकार की कोई सामाजिक संकीर्णता शेष न रह जाय। सतगुरु की सिर्फ एक ही जाति रहने दी और गुरुजी के जन्म-स्थान एवं निवास-स्थान को ही उनके जन्म एवं निवास का स्थान बना दिया गया। चारों वर्णों के उस भेदभाव को

भी उन्होंने मिटा दिया, जिसका आधार सिर्फ जन्म की आकस्मिक घटना रह गया था। 'खालसा' धर्म और 'सिंह' मज़हब जो उनको धारण कराया गया, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों ही से न्यारा था। कड़ा, कच्छ, केश, कृपाण व कंघा धारण करा कर उनकी वेशभूषा और 'सिंह' नाम धर कर उनका नाम तक बदल दिया गया। कितना बड़ा यह परिवर्तन था? 'अमृत' छका कर, 'अकाली' नाम देकर, उनको 'सिंह' बना कर उनमें कभी न मरने की भावना पैदा किये बिना गुरु वह महान् क्रान्ति करने में सफल नहीं हो सकते थे, जिसने कि पंजाब में अदम्य राष्ट्रीयता को जन्म दिया और जिसकी वजह से वहां सिख-साम्राज्य की स्थापना हुई। यही चहुँमुखी परिवर्तन ऋषि दयानन्द को अभीष्ट था। महा क्रान्ति का यही बिगुल ऋषि दयानन्द ने फूँका था। इसी राष्ट्रीयता को जन्म देने के महान् उद्योग में ऋषि ने अपने को खपा दिया था। ऋषि ने भी पवित्रता के द्योतक अत्यन्त विशुद्ध शब्द 'आर्य' को अपनाया। इस देश या राष्ट्र का नाम 'आर्यावर्त' होने से 'आर्य' शब्द का सौन्दर्य और सार्थकता कई गुना बढ़ गई। आर्यों को 'अमृत-पुत्र' बता कर निर्भयता का अवतार बनाने का उन्होंने महान् यत्न किया। घर की मोह-माया, जात-बिरादरी की संकीर्ण ममता, जन्मपरम्परागत वर्णों के बंधन और अन्धविश्वास पर कायम हुई मतमतान्तर की साम्प्रदायिक अनुदारता एवं असहिष्णुता को जड़-मूल से मिटाने में ऋषि ने अपना सारा जीवन लगा दिया, क्योंकि वे जानते थे कि बिना इसके राष्ट्रीयता किंवा राष्ट्रवाद पनप ही नहीं सकता। समाज की परम्परागत रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर आश्रित सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को झकझोर

कर बदल देने वाली जिस महान् और भीषण सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति की उस समय जरूरत थी, उसके देवदूत और अग्रदूत बन कर ऋषि दयानन्द प्रगट हुए थे। बिना इसके राष्ट्रीय क्रान्ति के लिये अनुकूल भूमि तय्यार नहीं हो सकती थी। लेकिन, आज क्या स्थिति है? उस भट्टी में धांय-धांय करके धधकने वाली आग की लपटें कहाँ हैं? उस महान् क्रान्ति की भीषण ज्वाला-शिखायें कहाँ दीख पड़ती हैं? वह परिवर्तन केवल शब्दों तक रह गया। हृदय के भीतर की तह तक वह नहीं पहुँच पाया। जब सामाजिक एवं धार्मिक क्रान्ति का ही क्रम पूरा न हो पाया, तब राष्ट्रीय क्रान्ति कहाँ से और कैसे प्रगट होती? इसी लिये जान पड़ता है कि ऋषि का मिशन अधर में लटकता रह गया।

वह कैसे पूरा हो? जवाब इस सवाल का केवल एक है। वह यह कि इसके लिये फिर से उस विद्रोह को जगाने की आवश्यकता है, जिसे ऋषि ने जगाया था। उस भट्टी में फिर से भीषण आग सुलगाने की जरूरत है, जिससे हमारी सारी सामाजिक संकीर्णता एवं सारे ही धार्मिक अन्धविश्वास जल कर राख हो जांय, क्रान्ति की भीषण ज्वाला-शिखायें सारे ही समाज में चारों ओर व्याप जांय और राष्ट्रवाद के लिये वह अनुकूल भूमि तय्यार हो जाय, जिसे ऋषि तय्यार करना चाहते थे। आर्यसमाज को कठोर हाथों में पकड़ कर एक बार वैसे ही झकझोर देने की आवश्यकता है, जैसे कि ऋषि दयानन्द ने गहरी नींद में सोये हुए अपने देशवासियों को झकझोर दिया था। स्वामी श्रद्धानन्दजी के बाद आज आर्यसमाज में ऐसा शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्तित्व कहीं दीख नहीं पड़ता, जिसके हाथों में इतना बल हो और जिसके हृदय में

इतनी सामर्थ्य हो कि वह आर्यसमाज का कायाकल्प कर सके। लेकिन, भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये इस कायाकल्प का किया जाना उतना ही जरूरी है, जितना कि ऋषि को समूचे देश का कायाकल्प करना जरूरी प्रतीत होता था। यह निश्चित है कि इस कायाकल्प के लिये हम में से हर एक को अपना ही कायाकल्प करना चाहिए। आत्मिक अर्थात् व्यक्तिगत उन्नति ही समाज एवं संसार के उपकार की ईकाई है। "प्रथम अपने दोष देख निकाल के पश्चात् दूसरे के दोषों को दृष्टि देके निकालें"—यह ऋषि का स्पष्ट आदेश है। व्यक्तिगत रूप से हम सब उस भट्टी के लिये ईंधन हैं। इसलिये अपने को जलाये और तपाये बिना उस भट्टी को प्रज्वलित करने की हमारी आशा पूरी नहीं हो सकती। अपने जलाने एवं तपाने का सीधा व स्पष्ट मतलब यही है कि हम ऋषि के दिखाये हुए मार्ग पर आरूढ़ हो जांय, उसके निमित्त समस्त कष्टों को झेलने के लिये तय्यार हो जांय और हज़ारों विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी उससे विचलित न हों। हमें अपने को परखना चाहिए, अपने जीवन की जाँच-पड़ताल करनी चाहिए और अपने सारे व्यवहार को ऋषि के आदेश की कसौटी पर कसना चाहिए। हम में से हर एक के जीवन की छाया हमारे संगठन व संस्था पर पड़ती है। उसी से उसका निर्माण होता है। हमारे व्यक्तिगत जीवन के सामूहिक संचय का नाम ही तो समाज, संगठन एवं संस्था है। अपने को 'नास्तिक' बनाये रखकर हम समाज को 'आस्तिक' नहीं बना सकते। अपने को सामाजिक कमजोरियों का पुंज बनाये रखकर हम समाज को बलवान् नहीं बना सकते। अपने को धार्मिक अन्ध-विश्वासों में उलझाये रख कर हम समाज को उनसे छुटकारा नहीं दिला सकते।

अपने को परम्परागत रूढ़ियों में फंसाये रख कर हम समाज को उनसे मुक्त नहीं कर सकते। जात-बिरादरी की मोह-माया में स्वयं पड़े रह कर हम गुण-कर्म-स्वभाव को वर्ण-व्यवस्था का आधार नहीं बना सकते। इस प्रकार हमारा सारा ही कार्यक्रम और ऋषि का सारा ही मिशन खटाई में पड़ गया है।

लेकिन, इस व्यक्तिगत उन्नति का क्रम कैसे शुरू हो? हम तो उस भीषण आत्मवंचना के व्यापार में पड़ गये हैं, जिसमें पड़ने के बाद मनुष्य के लिये उन्नति करना कठिन हो जाता है। हमें श्रेष्ठ, पवित्र और उच्च बनाने के लिये ऋषि ने उस 'आर्य' शब्द का प्रयोग किया था, जिसका सम्बन्ध भले कर्मों एवं सद्गुणों के साथ है; लेकिन, हमने उसे भी जातिपरक मान कर अपने को श्रेष्ठता, पवित्रता और उच्चता का अवतार मान लिया है। सब सत्य विद्याओं का पुस्तक वेद हमें इस लिए दिया गया था कि हम उसके पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने का परम धर्म पालन करें; लेकिन, हमें तो उस सचाई का इतना अभिमान हो गया कि हम यह भी भूल गये कि सत्यासत्य का अनुसंधान एवं विचार करते हुये सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहने का हमें आदेश दिया गया है। अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि के लिए कोई विशेष उद्योग किये बिना ही हमने अपने को विद्या का पुंज मान लिया है। वैदिक धर्म को सबसे श्रेष्ठ, सबसे पुरातन और सबसे पवित्र मानते हुए हमने उसको अपने आचार-विचार में लाने का विशेष यत्न किये बिना ही उसका अभिमान करना शुरू कर दिया है। इस शाब्दिक अभिमान की पूंजी के बल-बूते पर हम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'

के नारे को सार्थक बनाना चाहते हैं। यह कोरी आत्मवंचना है। इससे न तो हमें कुछ व्यक्तिगत लाभ मिल सकता है और न हम सामूहिक रूप से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। इस लिए आत्मवंचना के इस मायाजाल से अपने को बाहर निकालने में हमें तुरन्त ही लग जाना चाहिये। व्यक्तिगत विद्रोह की यह प्रबल भावना हममें से हर एक के हृदय में प्रबल वेग के साथ पैदा होनी चाहिये। अपने सारे आचार-विचार और व्यवहार को हमें एक बार फिर नये सिरे से नये ढाचे में ढालने का उद्योग करना चाहिये। अपनी सारी वृत्तियों और प्रवृत्तियों को राष्ट्रोन्मुखी बना कर आर्यसमाज में ऋषि के राष्ट्रवाद की स्थापना कर अपने देश में अपना राज्य और सारे संसार में अपने देश का 'अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य' स्थापित करने का महान् स्वप्न देखना चाहिए।

मुश्किल तो यह है कि हम भी ऐसे ही मनुष्यों में शामिल हो गये हैं, जिनके लिये ऋषि ने यह लिखा है कि "जो हो परन्तु बहुत मनुष्य ऐसे हैं, जिनको अपने दोष तो नहीं दीखते; किन्तु दूसरों के दोष देखने में अत्युद्युक्त रहते हैं।" ऋषि ने कहा है कि "यह न्याय की बात नहीं।" पिछले चार समुल्लासों के खण्डनात्मक प्रकरण में उलझ कर हमने सिर्फ प्रचार के उस धर्म को अपना लिया है, जिसमें न्याय का अंश इसलिये नहीं रहा कि हमने पहले दस समुल्लासों के आचार-प्रधान धर्म को प्रायः सर्वथा भुला दिया है। आचार के बिना प्रचार में अपने को लगाना वैसा ही है जैसे कि कोई बिना पुख्ता नींव बनाये ऊँचा शानदार महल खड़ा करना चाहे। इस लिये सामूहिक दृष्टि से हमें प्रचार-प्रधान धर्म से मुँह मोड़कर आचार-प्रधान धर्म को अपनाना चाहिए। जैसा हम समाज

को बनाना चाहते हैं, ठीक उसका माडल या आदर्श हमें अपने को और अपने घर को बना कर समाज के सामने पेश करना चाहिये। अन्य सब सद्गुणों और अच्छाइयों के समान विद्रोह, विप्लव एवं क्रान्ति का श्रीगणेश भी अपने व्यक्तिगत जीवन, घर-गृहस्थी और परिवार से ही किया जाना चाहिये। ऋषि के तर्क की नकल कर वितण्डावाद से काम लेने वाले उपदेशकों और भजनीकों में कितने हैं, जिन्होंने ऋषि की श्रद्धा एवं विश्वास को अपने हृदय में जगाया है, उनकी तपस्या एवं स्वाध्याय को अपने जीवन में ढाला है और समाज को भी अपने को उसी ढाँचे में ढालने के लिये प्रेरित किया है। ऋषि के शब्दों की नकल करने वालों की समाज में कमी नहीं है; लेकिन, अमृत की खोज में अपने को खपाने वाले उन जैसे कितने हैं? हमारे धर्म-कर्म के बहीखाते में जबानी जमा-खर्च की कमी नहीं है; लेकिन, नगदी के हिसाब का उसमें कहीं पता भी नहीं है। हवा से हिलने वाले पेड़ पर बैठी हुई चिड़िया के समान हम देश में हुई जागृति एवं प्रगति का सारा श्रेय स्वयं लूट लेना चाहते हैं; लेकिन, यह देखने की हमें फुरसत नहीं है कि हमारे अपने जीवन, अपने घर और अपने परिवार में उस जागृति एवं प्रगति का कितना प्रकाश फैल सका है? दूसरों को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से छुटकारा दिलाने का यश-सम्पादन करने का यत्न तो हमने खूब किया; लेकिन, अपने को उनसे मुक्ति दिलाने के लिये हमने कितना यत्न किया? नवीन विचारधारा और नवीन अन्वेषण की जिज्ञासा का हम अपने को जन्मदाता मानते हैं; लेकिन, हम स्वयं धीरे-धीरे पुरातनपंथी बनते हुए उनसे मुँह मोड़ते जा रहे हैं। हमारा आचार-विचार व प्रचार तथा धर्म-कर्म सब आर्यसमाज के

साप्ताहिक सत्संग के लिये रह गया है; अपने लिये, घर के लिये और परिवार के लिये उसका उतना महत्व नहीं रहा। इस सब का परिणाम यह हो रहा है कि आर्यसमाज संस्था वा संगठन न रह कर धीरे-धीरे एक सम्प्रदाय बनता जा रहा है और उसकी गिनती सार्वजनिक संस्थाओं में न होकर साम्प्रदायिक संस्थाओं में होने लग गई है। आर्यजीवन प्रगति, जागृति और चेतना का पुंज न रह कर वैसा ही निस्तेज, निर्वीर्य और प्राणरहित बन जायगा, जैसा कि ऋषि के आगमन से पहिले हमारे देश का सारा जीवन बना हुआ था। सारे देश में जीवन की ज्योति जगाने वाले आर्य-समाज को भटकते हुओं का पथ-प्रदर्शन करने के लिये प्रकाशस्तम्भ बनना चाहिये था; लेकिन, वह स्वयं ही जीवन की खोज में इधर-उधर भटकने लग गया है। सारे राष्ट्र को जीवन एवं संगठन का पाठ सिखाने वाले, चेतना व प्राण की अटूट निधि दान में देने वाले और ऋषि दयानन्द सरीखे अद्वितीय महापुरुष के उत्तराधिकारी होने का दावा करने वाले आर्यसमाज की यह स्थिति सचमुच अत्यन्त खेदजनक है। कभी अका-लियों की पगड़ियों की, कभी उनके नारों की, कभी गुरु लंगरों की और कभी दूसरी बातों की नकल की जाती है। लेकिन, नकल असल नहीं हो सकती। फिर कभी मुस्लिम लीग की थोथी साम्प्रदायिकता की नकल की जाती है और हिन्दू-हितों के नाम का मायाजाल रचा जाता है। लेकिन, वह भी मिया की दौड़ मसजिद तक रह जाती है। बाह्य चिन्ह जीवन की सिर्फ निशानी हैं। वे जीवन को पैदा नहीं कर सकते। लेकिन, हमने तो धुंए को ही अग्नि मान लिया है। भगवान् बुद्ध या ऋषि दयानन्द को पहाड़ों, जंगलों, खाइयों, नदियों की उपत्यकाओं और चट्टानों की तहों

में कहीं पड़ा हुआ जीवन हाथ नहीं लग गया था; बल्कि अपनी आत्मा में ही उनको उसके दर्शन हुए थे। यह जानते और मानते हुए भी हम जीवन को कहीं बाहर से प्राप्त कर लेना चाहते हैं। वह कैसे और कहां से मिल सकता है?

प्रत्येक राष्ट्र, समाज, संस्था और संगठन के लिये परीक्षा का अत्यन्त नाजुक अवसर उपस्थित हुआ करता है। इस अवसर में अपने को सफलता की चोटी पर पहुँचा देने वाले अमर हो जाते हैं और थोड़ा-सा भी डगमगाने वाले नैतिक पतन की गहरी खाई में औंधे मुँह गिर जाते हैं। पराधीन राष्ट्र की मुक्ति के लिये क्रान्ति का सन्देश लेकर प्रगट होने वालों के लिये तो यह समय और भी नाजुक होता है। पिछला इतिहास हमारे सामने है। देश की स्वतन्त्रता के लिये अकाली, मराठा और राजपूत प्रगट हुए। गुरु गोविन्दसिंहजी महाराज, छत्रपति शिवाजी महाराज और महाराणा प्रताप को पाकर देश धन्य हो गया। अकालियों ने सर्वस्व की बाजी लगाकर जो पुरुषार्थ दिखाया और विरोधी के सामने सिर झुकाने से इनकार कर दिया, उसी का परिणाम है कि उनमें आज भी कुछ जीवन, ज्योति, जागृति और चेतना दीख पड़ती है। जहाँ भी कहीं वे मोर्चा लेते हैं, विजयश्री उन्हें जयमाल पहिना कर अपने को गौरवान्वित करती है। मराठों ने भी सिर ऊँचा रखा। उनमें भी जीवन और प्राण का कुछ अंश शेष है। लेकिन, महाराणा प्रताप की शूरता एवं वीरता का इतना लाभ राजपूतों को इसलिये नहीं मिला कि उनमें मानसिंह और जयसिंह सरीखे अनेकों राजपूतों ने मुगल सम्राटों के चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सुखोपभोग में ही अपने को धन्य मान लिया। आज देश के

सार्वजनिक एवं राजनीतिक जीवन में राजपूतों का स्थान कहाँ है? आर्य-समाजियों के लिये भी अत्यन्त नाजुक घड़ी उपस्थित है। राजनीति से मुँह मोड़कर और ऋषि के राष्ट्रवाद को तिलांजली देकर वे एक बार फिसल चुके हैं। लेकिन, वे चाहें तो अब भी संभल सकते हैं। उनको यह तय करना है कि वे अपना भविष्य राजपूतों के समान अन्धकारमय बना लेना चाहते हैं अथवा अकालियों एवं मराठों के समान उसे कुछ उज्ज्वल बना हुआ देखना चाहते हैं? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के बीच खाई ही खुद गई हो। राष्ट्र-वाद की दृष्टि से तो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं है। एक संस्था का कई संस्थाओं में बंट जाना वैसा ही है, जैसे कि कोई संगठित फौज दुश्मन की चोट खाकर कई टुकड़ों में बंट गई हो। आर्यसमाज में 'जात-पांत तोड़क मण्डल', 'आर्य स्वराज्य सभा' और 'दलितोद्धार सभा' आदि का बनना कोई शुभ लक्षण नहीं है। इस प्रकार शक्तियां बिखर जाती हैं। जीवन के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। संगठन और संस्थायें नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। जिस देश, समाज अथवा राष्ट्र के लिये उनका निर्माण किया जाता है, उनके उत्थान की सारी आशायें विलीन हो जाती हैं। इस स्थिति पर उन्हें कुछ गम्भीर विचार करना चाहिए, जो अपने को ऋषि का उत्तराधिकारी मानते हुए उनके मिशन का सन्देश सारे विश्व में फैला हुआ देखना चाहते हैं।

फिर हमें यह भी नहीं भुला देना चाहिए कि 'सचाई' किसी एक ही समाज की बपौती नहीं है और जो 'सचाई' जीवन का सक्रिय अंग नहीं

बन जाती, वह किसी काम नहीं आ सकती। ऋषि ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने कोई नयी सचाई और नयी बात पेश नहीं की। उनसे पहिले भी वेद और वैदिक धर्म विद्यमान् थे, जिन पर आचरण करना लोगों ने छोड़ दिया था। अवनति उसी का परिणाम हुआ। वेदों के पुस्तकालयों या आर्यसमाजों में पड़े रहने पर भी हमारा पतन एवं अवनति होना संभव है और वैदिक धर्म रहते भी हम गिर सकते हैं। उनका स्थान या महत्व उतना ही है, जितना कि गोदाम में रखे हुये गोला-बारूद का है। उनसे यदि काम न लिया जाय, तो जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। इसी प्रकार वेद और वैदिक धर्म की सचाई को यदि जीवन तथा आचार-विचार एवं व्यवहार में पूरा न उतारा जाय, तो केवल उनका नाम रटने या जपने से काम नहीं चल सकता। हर महापुरुष अपने अनुयायियों के लिये कुछ न कुछ 'सचाई' छोड़ जाता है। लेकिन, जैसे ही उनके अनुयायी उस सचाई से दूर होने लगते हैं, वैसे ही उनका पतन होना शुरू हो जाता है। जैसे देह की कीमत आत्मा के साथ है, वैसे ही सचाई की कीमत जीवन के साथ है। इस लिये सिर्फ सचाई के भरोसे, उसे जीवन में उतारे बिना ही, जीवित रहने की आशा रखना वृथा है। सचाई किसी के भी भरोसे रुकी नहीं रहती। उसके प्रसार व प्रचार के लिये प्रगट होने वाली नयी संस्थाओं का जन्म पुरानी संस्थाओं की रियायत नहीं करता। छूआछूत को मिटाने और हरिजनों का उद्धार करने की समस्या आर्य-समाज का रास्ता नहीं देखती रही। जात-पात को मिटाने और जन्म की आकस्मिक घटना को दिये गये अनावश्यक महत्व को दूर करने की सचाई भी आर्यसमाज के भरोसे रुकी नहीं रही। हिन्दी के प्रचार ने अपना रास्ता

बना ही लिया। ऋषि का राष्ट्रवाद भी फल-फूल रहा है। सचाई तो वह ज्योति है, जो ज्वालामुखी की तरह प्रगट होकर ही रहती है। इस लिये यह मानना भूल है कि सचाई का ठेका ऋषि सिर्फ आर्यसमाज को ही दे गये हैं और वह उस ठेके पर निश्चिन्त रह सकता है। सचाई के प्रसार व प्रचार के लिये ऋषि अपने पीछे आर्यसमाज को छोड़ गये हैं। लेकिन, नयी संस्थाओं का जन्म लेना और प्रगट होना उन्होंने रोका नहीं और न वे उसे रोक ही सकते थे। इस लिये समय आ सकता है कि आर्यसमाज पिछड़ जाय और कोई नयी संस्था उसका स्थान ले ले। राष्ट्रीय क्षेत्र में, निस्सन्देह, उसका स्थान कांग्रेस ने ले ही लिया है।

एक भ्रान्त धारणा और है। वह यह कि बलिदानों के भरोसे आर्यसमाज जीवित और जागृत बना रह सकता है। निसन्देह, बलिदानों में एक अजीब जादू होता है। वे चमत्कार कर दिखाते हैं। लेकिन, आर्यसमाज के लिए बलिदानों का भी उतना महत्व नहीं रहा। बलिदानों का कोई चमत्कार आर्यसमाज में होता नजर नहीं आता। वैसे तो आर्यसमाज की नींव ही बलिदान पर रखी गई है और बलिदानों से ही उसको सींचा गया है। ऋषि दयानन्द, पण्डित लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द जी के महान् बलिदानों के अलावा भी दर्जनों शानदार बलियां आर्यसमाज ने दी हैं। निजाम हैदराबाद के शानदार सत्याग्रह में भी बलिदानों की अमर कहानी आर्यसमाज ने लिख दी है। लेकिन, सवाल यह है कि आर्यसमाज में इन सब बलिदानों से क्या चमत्कार और परिवर्तन हुआ? गुरु तेगबहादुरजी के सिर्फ एक बलिदान ने सिक्खों में भीषण क्रान्ति पैदा कर उनका कायाकल्प कर डाला था। आर्यसमाज में इतने बलिदानों के

बाद भी ऐसा कोई कायाकल्प होने की सम्भावना दीख नहीं पड़ती। यह कटु और अप्रिय सत्य है कि हैदराबाद-सत्याग्रह के बाद पंजाब और युक्त-प्रांत की आर्यप्रतिनिधि-सभाओं के जो अधिवेशन हुए, उनमें 'कोरम' भी पूरा नहीं हुआ। सत्याग्रह के बाद के लिये बनाई गई आर्य सार्वदेशिक सभा की अधिकांश योजनायें पैसे का अभाव न होने पर भी कार्य में परिणत न हुईं। वहां आर्य हाई स्कूल तक की स्थापना अभी नहीं की जा सकी और न उसका इतिहास ही प्रकाशित किया जा सका है। बलिदानों को इस प्रकार प्रभावहीन और महत्वहीन बना कर उनके भरोसे जीवित और जागृत रहने की आशा पूरी नहीं हो सकती। राजपूतों के बलिदान के मुकाबले आर्यसमाज का बलिदान समुद्र के मुकाबले पानी की एक बूंद है। वह महान् और शानदार बलिदान राजपूतों को पतन से बचा नहीं सका। पन्ना, पद्मिनी और मीरा की सेवाभूमि, वीरभूमि और तपोभूमि राजस्थान में महिलायें कैदियों का-सा दीन-हीन जीवन बिताने को मजबूर हैं। राजपूत भी परा-धीन जीवन बिता रहे हैं। मराठों तथा सिक्खों का शानदार बलिदान भी उनके लिये संजीवनी बूटी साबित नहीं हुआ और उनको अमर नहीं रख सका। जिस बलिदान का जीवन के साथ सम्बन्ध नहीं रहता, उसमें चमत्कार कर दिखाने की शक्ति नहीं रहती। अथवा, जब किसी समाज में बलिदान से अनुप्राणित होने की सामर्थ्य नहीं रहती, तब भी बलिदान कोई चमत्कार नहीं दिखा सकता। आर्यसमाज में ऐसी ही-सी स्थिति पैदा हो जाने से उसके बलिदान व्यर्थ जा रहे हैं। उनका कुछ भी चमत्कार होता दीख नहीं पड़ता। इसका एक कारण यह भी है कि इन बलिदानों का उदार, व्यापक और सार्वजनिक भावना से स्वागत न

किया जाकर उनको संकुचित, संकीर्ण, सीमित और अनुदार साम्प्रदायिक भावना से ही देखा जाता है। ऋषि दयानन्द के बलिदान से आर्यसमाज में सनातनियों के विरुद्ध एक वेगवती लहर पैदा हो गई और आर्यसमाजियों ने सनातन धर्म के खण्डन-मण्डन में अपने को सर्वतोभावेन लगा दिया। आर्यपथिक पण्डित लेखरामजी और अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदानों की प्रतिक्रिया आर्यसमाज में इस्लाम के विरोध में प्रगट हुई और आर्यसमाजी उसके खण्डन-मण्डन में लग गये। परिणाम यह हुआ कि वास्तविक ध्येय या आदर्श से हमारी दृष्टि हट गई। राष्ट्रवाद से हट कर आर्यसमाज सम्प्रदायवाद की दलदल में धंस गया। राष्ट्रीय आकांक्षायें मुर्झा गईं। स्वराज्य का आदर्श आंखों से ओझल हो गया। अखण्ड सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की कल्पना हवा होगई। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के छठे समुल्लास को सर्वथा भुला दिया गया। ऋषि के जीवन में बिजली की तरह व्यापी हुई राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होना हमने छोड़ दिया। निराशापूर्ण इस स्थिति में आर्यसमाज जा पहुँचा है। आशा की केवल एक किरण कभी कभी चमक जाती है। वह है आर्य युवकों के हृदयों में समाई हुई अपने देश एवं राष्ट्र के स्वतन्त्र एवं स्वाधीन देखने की उत्कट अभिलाषा। इसी अभिलाषा के रूप में ऋषि के राष्ट्र-वाद की चिंगारी अभी बची हुई है। क्या वह चिंगारी फिर से प्रज्वलित होकर उस भट्टी में सुलग सकेगी, जिसमें विद्रोह, विप्लव और महा क्रांति की आग को ऋषि दयानन्द ने अपने देश की दीनता, हीनता एवं परा-धीनता को राख बना देने के लिए ही सुलगाया था?

अपने को ऋषि का अनुयायी मानने वाले हर आर्यसमाजी को इस

सवाल का जवाब हृदय पर हाथ रख कर देना चाहिये और उसे यह भी बताना चाहिए कि इस समय आर्यसमाज का कायाकल्प करने के लिये जिस विद्रोह की आवश्यकता है, उसमें वह कितना और कैसा सहयोग देने के लिये तय्यार है ? ऋषि के राष्ट्रवाद को पूरा करने की जिम्मेवारी हममें से हर एक पर स्वत: ही आ गई है । उससे हम इनकार नहीं कर सकते ।

लेखक की अन्य पुस्तकें

१—"स्वामी श्रद्धानन्द" पृष्ठ ६४८, रियायती मूल्य २)

अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की ६४८ पृष्ठों में सुविस्तृत, प्रामाणिक और पूर्ण जीवनी अत्यन्त ओजस्वी भाषा और तेजस्वी शैली में लिखी गई है। हिन्दी में किसी भी महापुरुष की ऐसी जीवनी आज तक नहीं लिखी गई। सभी समाचार पत्रों ने इसको मुक्त कण्ठ से सराहा है। डाक खर्च सहित २।।।)।

२—"हमारे राष्ट्रपति" पृष्ठ ४००, मूल्य १)

कांग्रेस के शुरू से अब तक के सभापतियों के जीवन-परिचय उनके चित्रों के साथ दिये गये हैं। डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने इसकी भूमिका लिखी है। तीसरा संस्करण छपने को है। डाक खर्च सहित १।।)।

३— "परदा" पृष्ठ २५०, मूल्य २।।)

परदा प्रथा पर समाज सुधार की दृष्टि से लिखी गई अत्यन्त उत्कृष्ट पुस्तक। दर्जनों चित्र व कार्टून। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का श्री राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार सब से पहिले इसी पुस्तक पर दिया गया है। सेठ जमनालाल जी बजाज की धर्म-पत्नी श्रीमती जानकीदेवीजी बजाज ने इसकी भूमिका लिखी है। डाक खर्च सहित ३)।

४— "राष्ट्रधर्म" पृष्ठ १२५, मूल्य ।।।)

सामाजिक क्रान्ति की आग उगलने वाली अनूठी पुस्तक, जो अलीपुर जेल के सीकचों में बैठकर लिखी गई थी। पहिला संस्करण समाप्त हो चुका है। दूसरा जल्दी ही छपने वाला है। डाक खर्च सहित १)

५—"लाला देवराज" पृष्ठ २८४ मूल्य १)

स्त्री शिक्षा के प्रवर्तक, मातृजाति के उद्धारक और कन्या महाविद्यालय के संस्थापक स्वर्गीय लाला देवराज जी की यह जीवनी मुर्दों में भी रूह फूंकने का सामर्थ्य रखती है। दर्जनों चित्र दिये गये हैं। डाक खर्च सहित १।=)

३—"राष्ट्रवादी दयानन्द" पृष्ठ १३६, मूल्य ।।।)

यह क्रान्तिकारी ग्रन्थ आपके हाथों में है, 'दयानन्द दर्शन' नाम से इसका पहिला संस्करण प्रकाशित हुआ था। डाक खर्च सहित १)

७—"पाकिस्तान" पृष्ठ १२५, मूल्य ।।।)

पाकिस्तान पर बहुत कुछ कहा गया है। लेकिन, लिखा कुछ भी नहीं गया। जो कुछ लिखा गया है, उसमें युक्ति एवं तर्क से इतना काम नहीं लिया गया। इस लिये हिन्दी में यह पहिली पुस्तक है, जिसमें इस नापाक योजना की धज्जियां उड़ाई गई हैं। डाक खर्च सहित १)

रेल पार्सल से सब पुस्तकें एक साथ मँगाने पर रेल भाड़ा माफ।

कांगड़ी **"गीता विज्ञान कार्यालय"**

४० ए हनुमान रोड, नई दिल्ली।